हिन्दी
त्रैमासिक

रामकृष्ण
मिशन
विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर

★ १९७३ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी प्रणवानन्द

वार्षिक ४)

एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

अनुक्रमणिका

—:o:—

कव्हर चित्र परिचय — स्वामी विवेकानन्द
(पैसाडेना, कॅलिफोर्निया में सन् १९००)

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(२३ वीं तालिका)

८०७. श्री बैजनाथ प्रसाद यादव, नायब तहसीलदार, निवाड़ी (टीकमगढ़)

८०८. श्री एम. सी. सरकार, एजेन्ट, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, निवाड़ी (टीकमगढ़)

८०९. श्री जतीजी, समाधि मन्दिर, खाईखेड़ी २५१–३०७ (मुजफ्फर नगर)

'विवेक-ज्योति'

के आजीवन सदस्य बनें

विगत ग्यारह वर्षों से 'विवेक-ज्योति' का नियमित प्रकाशन होता चला आ रहा है। जब से पत्रिका शुरू हुई है, तब से इसका वार्षिक शुल्क ४) ही चला आ रहा है। इस बीच कागज का दाम दुगुना हो गया, छपाई की दरें भी बहुत बढ़ गयीं, पर जहाँ अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने अपने शुल्क में उल्लेखनीय वृद्धि की, 'विवेक-ज्योति' का शुल्क वही का वही रहा। फिर आपने यह भी लक्ष्य किया होगा कि आपकी इस पत्रिका में किसी प्रकार का विज्ञापन नहीं लिया जाता। अत: स्वाभाविक है कि पत्रिका को आर्थिक कठिनाइयों में से गुजरना पड़े। अभी पत्रिका की ६,६०० प्रतियाँ छपती हैं। हम चाहते हैं कि यदि यह पत्रिका आपको पसन्द आयी है, तो आप कुछ नये ग्राहक बनाने में हमारी सहायता करें। साथ ही आपमें से जो इसके आजीवन सदस्य बन सकते हैं, वे १००) (एक सौ रुपये) देकर बन जायँ ऐसा अनुरोध है। अब तक इसके ८०९ आजीवन सदस्य बन चुके हैं। १००० आजीवन सदस्य बनाने का लक्ष्य है। इसमें सन्देह नहीं कि आपका सहयोग पाकर हम यह लक्ष्य पूरा कर लेंगे।

——व्यवस्थापक 'विवेक-ज्योति'

ग्राहकों को विशेष सूचना

१. 'विवेक-ज्योति' के इस चतुर्थ अंक के साथ जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा समाप्त हो रहा है, वे अगले वर्ष के लिए अपना चन्दा ४) मनीआर्डर द्वारा कृपया व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय, पो.–विवेकानन्द आश्रम, रायपुर ४९२-००१ (म. प्र.) के पते पर भेज दें। ग्राहकों की सुविधा के लिए साथ में मनीआर्डर फार्म संलग्न है।

२. यदि चन्दा हमें १५ दिसम्बर, १९७३ तक नहीं प्राप्त होगा, तो 'विवेक-ज्योति के बारहवें वर्ष का प्रथम अंक सम्बन्धित व्यक्तियों को व्ही. पी. से भेज दिया जायगा। व्ही. पी. ५)२५ की होगी। अनुरोध है कि व्ही. पी. कृपा करके छुड़ा ली जाय, अन्यथा इस धार्मिक संस्था को व्यर्थ ही हानि सहनी पड़ जायगी।

३. जिन्हें अब ग्राहक नहीं रहना है, वे कृपया शीघ्र हमें सूचित कर दें, जिससे हम व्यर्थ व्ही. पी. न भेजें।

४. 'विवेक-ज्योति' त्रैमासिक पत्रिका ग्राहकों को जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर के प्रथम सप्ताह में निश्चित रूप से डाक द्वारा भेज दी जाती है। जिन्हें पत्रिका न मिले, वे न मिलने की शिकायत कृपया सम्बन्धित महीने के अन्त तक हमारे पास अवश्य भेज दें।

५. 'विवेक-ज्योति' के ग्राहकों के लिए रामकृष्ण मठ एवं मिशन के प्रकाशनों पर ५% की छूट दी जायगी।

६. पत्र लिखते या मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।

व्यवस्थापक
'विवेक-ज्योति'

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ११] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७३ ★ एक प्रति का १)

कर्मनाश कब ?

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्
कल्पकोटिशतार्जितम् ।
संचितं विलयं याति
प्रबोधात् स्वप्नकर्मवत् ।।

——'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा एकत्व-बोध होने पर शत-कोटि कल्पों की संचित कर्मराशि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार स्वप्नावस्था के कर्म जागने पर निःशेष हो जाते हैं ।

——विवेकचूड़ामणि, ४४७

आधुनिक जनक !

आधुनिक शिक्षा में शिक्षित कोई सज्जन श्रीराम कृष्ण से मिलने आये और उनसे चर्चा करने लगे कि संसार में रहते हुए भी सांसारिकता के दाग से अछूते गृहस्थों का स्वभाव कैसा होता है। इस पर श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "अरे, मैं जानता हूँ तुम्हारे ये आजकल के 'सांसारिकता के दाग से अछूते गृहस्थ लोग' कैसे होते हैं ! चूँकि ये दाग से अछूते गृहस्थी हैं, इसलिए पैसे से इनका कोई सरोकार नहीं होता ! इनकी पत्नी ही लेन-देन का सारा काम करती है ! इसीलिए यदि कोई गरीब ब्राह्मण इनके पास पहुँच जाय और इनसे याचना करने लगे, तो ये याचक से कहते हैं, 'देखो भाई ! मैं तो पैसे को छूता भी नहीं। मेरे पास माँग-माँगकर नाहक अपना समय क्यों खराब कर रहे हो ?' पर ब्राह्मण भी ना-छोड़-बन्दा है, वहाँ से टलता ही नहीं। करुण स्वर से अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए याचना किये ही जाता है। इससे इन 'सांसारिकता से अछूते गृहस्थ' का हृदय पसीज जाता है और ये मन ही मन सोचते हैं कि इस ब्राह्मण को एक रुपया दे देना चाहिए। फिर प्रकट में ब्राह्मण से कहते हैं, 'अच्छा जी, जरा कल आ जाओ। मैं देखूँगा कि तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ।' तत्पश्चात् ये सज्जन भीतर जाते हैं और पत्नी से कहते हैं, 'सुनो प्रिये ! एक गरीब ब्राह्मण

बड़ी तकलीफ में है। हमें उसे एक रुपया दे देना चाहिए। 'रुपये' का नाम सुनते ही इन 'दाग से अछूते गृहस्थ' की पत्नी अपना सन्तुलन खो बैठती है और व्यंग्य करते हुए कहती है, 'वाह ! तुम भी कितने दानी हो ! क्या रुपये घास-फूस के समान हैं कि बिना तनिक सोचे-समझे फेंक दिया ?' इस पर ये गृहस्थ क्षमा-याचना के स्वर में कहते हैं, 'देखो प्रिये ! ब्राह्मण सचमुच बड़ा ही गरीब है। उसे इससे कम नहीं देना चाहिए।' पर पत्नी कहती है, 'नहीं जी, हम तो इतना नहीं दे सकेंगे। यह लो दुअन्नी। चाहो तो यह उसे दे देना।' चूँकि ये बाबू घर-गृहस्थी वाले आदमी हैं और सांसारिकता के दाग से अछूते हैं, इसलिए पत्नी ने जो दिया, उसे चुपचाप ले लेते हैं और दूसरे दिन वह याचक केवल दुअन्नी ही पाता है !

"तो तुमने देखा, तुम्हारे ये तथाकथित सांसारिकता से अछूते गृहस्थ लोग वास्तव में अपने आप के स्वामी नहीं हैं। चूँकि ये अपनी गृहस्थी के काम-काज स्वयं नहीं देखते इसलिए सोचते हैं कि हम लोग भले हैं और सन्त पुरुष हैं; परन्तु असल में ये लोग तो जोरू के गुलाम हैं और अपनी बीबी के इशारों पर नाचते हैं। इनके सन्त और भले होने की तो बात दूर, ये सामान्य मानवता की भी बहुत ओछी मिसाल हैं !"

अग्नि-मंत्र

(श्री हरिपद मित्र को लिखित)

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

द्वारा जार्ज डब्ल्यू० हेल,
५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो
२८ दिसम्बर, १८९३

प्रिय हरिपद,

तुम्हारा पत्र कल मिला। तुम लोग अभी तक मुझे भूले नहीं, यह जानकर मुझे परम आनन्द हुआ। यह बहुत ही आश्चर्य की बात है कि मेरे शिकागो के व्याख्यानों का समाचार भारतीय समाचार-पत्रों में निकल चुका है; क्योंकि जो कुछ मैं करता हूँ, उसमें लोक-प्रसिद्धि से बचने का भरसक प्रयत्न अवश्य करता हूँ। मुझे कई बातें यहाँ विचित्र जान पड़ती हैं। यह कहने में कुछ अत्युक्ति न होगी कि इस देश में दरिद्रता बिल्कुल नहीं है। मैंने जैसी शिष्ट और शिक्षित महिलाएँ यहाँ देखीं, वैसी और कभी कहीं नहीं देखीं। हमारे देश में सुशिक्षित पुरुष हैं, परन्तु अमेरिका जैसी महिलाएँ मुश्किल से कहीं और दिखायी देंगी। यह बात सत्य है कि सच्चरित्र पुरुषों के घर में स्वयं देवियाँ वास करती हैं--

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु ।†

मैंने यहाँ हजारों महिलाएँ देखीं, जिनके हृदय हिम

† चण्डी, ४।५

के समान पवित्र और निर्मल हैं। अहा! वे कैसी स्वतंत्र होती हैं! सामाजिक और नागरिक कार्यों का वे ही नियंत्रण करती हैं। पाठशालाएँ और विद्यालय महिलाओं से भरे हैं और हमारे देश में महिलाओं के लिए राह चलना भी निरापद नहीं! और ये कितनी दयालु हैं! जब से मैं यहाँ आया हूँ, इन्होंने अपने घरों में मुझे स्थान दिया है, मेरे भोजन का प्रबन्ध करती हैं, व्याख्यानों का प्रबन्ध करती हैं, मुझे बाजार ले जाती हैं और मेरे आराम और सुविधा के लिए क्या नहीं करतीं--मैं किस प्रकार वर्णन करूँ। मैं सौ जन्मों में भी इस महान् कृतज्ञता के ऋण को थोड़ासा भी चुकाने में सर्वथा असमर्थ रहूँगा।

क्या तुम जानते हो कि शाक्त शब्द का अर्थ क्या है? शाक्त होने का अर्थ शराब, भंग का सेवन नहीं। जो यह जानता है कि जगत् में सर्वव्यापक महाशक्ति ईश्वर ही है और जो स्त्रियों को इस शक्ति का स्वरूप मानता है, वह शक्ति का पुजारी है। यहाँ लोग अपनी स्त्रियों को इसी रूप में देखते हैं। महर्षि मनु ने भी कहा है कि जिन परिवारों में स्त्रियों से अच्छा व्यवहार किया जाता है और वे सुखी हैं, उन पर देवताओं का आशीर्वाद रहता है--

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।†

यहाँ के पुरुष ऐसा ही करते हैं और इसीलिए ये

---

† मनुस्मृति, ३।५६

इतने सुखी, विद्वान्, स्वतंत्र और उद्योगी हैं। और हम लोग स्त्री-जाति को नीच, अधम, महा हेय एवं अपवित्र कहते हैं। फल हुआ--हम लोग पशु, दास, उद्यमहीन एवं दरिद्र हो गये।

इस देश के धन के बारे में क्या कहूँ ? पृथ्वी में इनके समान धनी अन्य कोई जाति नहीं। अंग्रेज लोग धनी हैं, किन्तु उनमें अनेक गरीब भी हैं। इस देश में गरीब नहीं के समान हैं। एक नौकर रखने पर खाने-पीने के सिवा प्रतिदिन छः रुपये देने पड़ते हैं। इंग्लैण्ड में प्रतिदिन एक रुपया देना पड़ता है। एक कुली की दैनिक मजदूरी छः रुपये से कम नहीं है। किन्तु खर्च भी वैसा ही है। चार आने से कम कीमत में एक रद्दी चुरुट भी नहीं मिलेगा। चौबीस रुपये में एक जोड़ा मजबूत जूता मिलेगा। जैसी कमाई, वैसा ही खर्च। ये लोग जिस तरह कमाते हैं, खर्च भी उसी प्रकार करते हैं।

और यहाँ की नारियाँ कैसी पवित्र हैं ! २५ या ३० वर्ष की आयु के पहले बहुत कम का विवाह होता है। गगन-चारी पक्षी की भाँति ये स्वतन्त्र हैं। हाट-बाजार, रोज-गार, दुकान, कालेज, प्रोफेसर--सर्वत्र सब धन्धा करती हैं, फिर भी कितनी पवित्र हैं ! जिनके पास पैसे हैं, वे गरीबों की भलाई में तत्पर रहती हैं। और हम क्या कर रहे हैं ? हम लोग नियमपूर्वक अपनी कन्याओं का विवाह ११ वर्ष की आयु में कर देते हैं, जिससे वे भ्रष्ट और दुश्चरित्र न हो जायँ ! हमारे मनुजी हमें क्या

आज्ञा दे गये हैं ? 'पुत्रियों का पुत्रों के समान सावधानी और ध्यान से पालन और शिक्षण होना चाहिए'—

कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः।

जैसे ३० वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक पुत्रों की शिक्षा होनी चाहिए, इसी तरह माता-पिता को पुत्रियों को भी शिक्षा देनी चाहिए, और उनसे ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कराना चाहिए। परन्तु हम कर क्या रहे हैं ? क्या तुम अपने देश की महिलाओं की अवस्था सुधार सकते हो ? तब तुम्हारे कुशल की आशा की जा सकती है, नहीं तो तुम ऐसे ही पिछडे पड़े रहोगे।

अगर हमारे देश में कोई नीच जाति में जन्म लेता है, तो वह हमेशा के लिए गया-बीता समझा जाता है; उसके लिए कोई आशा-भरोसा नहीं। यह भी क्या कम अत्याचार है ! इस देश में हर व्यक्ति के लिए आशा है, भरोसा है एवं सुविधाएँ हैं। आज जो गरीब है, वह कल धनी हो सकता है, विद्वान् और लोकमान्य बन सकता है। यहाँ सभी लोग गरीब की सहायता करने में व्यस्त रहते हैं। भारतवासियों की औसत मासिक आय २ रुपये है। यह रोना-धोना मचा है कि हम बड़े गरीब हैं, परन्तु गरीबों की सहायता के लिए कितनी दानशील संस्थाएँ हैं ? भारत के लाख-लाख अनाथों के लिए कितने लोग रोते हैं ? हे भगवान् ! क्या हम मनुष्य हैं ? तुम लोगों के घरों के चतुर्दिक् जो पशुवत् भंगी-डोम हैं, उनकी उन्नति के लिए क्या कर रहे हो ? उनके मुख में एक

ग्रास अन्न देने के लिए क्या करते हो ? बताओ न। उन्हें छूते भी नहीं और उन्हें 'दूर', 'दूर' कहकर भगा देते हो! क्या हम मनुष्य हैं ? वे हजारों साधु-ब्राह्मण भारत की नीच, दलित, दरिद्र जनता के लिए क्या कर रहे हैं ? 'मत छू', 'मत छू', बस, यही रट लगाते हैं ! उनके हाथों हमारा सनातन धर्म कैसा तुच्छ और भ्रष्ट हो गया है ! अब हमारा धर्म किसमें रह गया है ? केवल छुआछूत में—मुझे छुओ नहीं, छुओ नहीं !

मैं इस देश में कुतूहलवश नहीं आया, न नाम के लिए, न यश के लिए; परन्तु भारत के दरिद्रों की उन्नति करने का उपाय ढूँढ़ने आया। यदि परमात्मा सहायक हुए तो धीरे धीरे तुम्हें वे उपाय मालूम हो जायेंगे।

अमेरिकावालों में अनेक दोष भी हैं। वे आध्यात्मिकता में हमसे निम्न स्तर पर हैं, परन्तु इनका सामाजिक स्तर अति उच्चतर है। हम इन्हें आध्यात्मिकता सिखायेंगे और इनके समाज के गुणों को स्वयं ग्रहण करेंगे।

कब वापस लौटूँगा, मुझे मालूम नहीं; प्रभु-इच्छा बलवान। तुम सभी को मेरा आशीर्वाद। इति।

—विवेकानन्द

मन और उसका निग्रह

स्वामी बुधानन्द

(गतांक से आगे)

२२. ध्यान का महत्त्व

ईश्वर का ध्यान मनोनिग्रह का सबसे प्रभावी साधन है। ध्यान और मनोनिग्रह दोनों साथ साथ चलते हैं। मन के निग्रह का उच्चतम प्रयोजन है ईश्वर पर या आत्मा पर ध्यान करने में समर्थ होना। फिर, ध्यान भी मनःसंयम में सहायक होता है।

मन को ऐसे तत्त्व पर केन्द्रित करना चाहिए, जो न केवल अपने आप में शुद्ध हो, बल्कि वह अपनी शक्ति से मन को भी शुद्ध कर दे। ईश्वर पर ध्यान का सुझाव इसलिए दिया जाता है कि ध्यान करनेवाला ध्येय वस्तु के गुण को अपने भीतर आत्मसात् करता है।

ध्यान के समय जब भी मन इधर-उधर चला जाय, तो उसे परिश्रमपूर्वक वापस लाकर ध्यान के विषय में बिठा देना चाहिए। श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द कहते हैं--

जब तक तुम ध्यान का अभ्यास नहीं करोगे, मन को वश में नहीं किया जा सकता; और जब तक मन नियन्त्रित नहीं है, तुम ध्यान नहीं कर सकते। पर यदि तुम सोचो, 'पहले मुझे मन को वश में करने दो, फिर मैं ध्यान करूँगा,' तो तुम अध्यात्म-जगत् में प्रवेश ही नहीं पा सकते। तुम्हें दोनों एक साथ करने होंगे-- मन को स्थिर करना होगा तथा साथ ही ध्यान भी। †

---

† स्वामी प्रभवानन्द कृत 'दि इटर्नल कम्पैनियन: स्पिरिचुअल

इसीलिए एक बार जब एक शिष्य ने स्वामी ब्रह्मानन्द से पूछा, 'महाराज! मन को कैसे वश में किया जाय?' तो उन्होंने जो उत्तर दिया, वह वास्तव में उपर्युक्त निर्देश को अभ्यास में उतारने का तरीका है। उन्होंने कहा--

नियमित अभ्यास के द्वारा धीरे धीरे मन को ईश्वर पर केन्द्रित करना चाहिए। मन पर तीक्ष्ण दृष्टि रखो, ताकि उसमें कोई विक्षेप या अवांछनीय विचार न पैदा हो जायँ। जब भी ये तुम्हारे मन में घुसने का प्रयत्न करेंगे, तब मन को ईश्वर की ओर फेर दो और हृदय से प्रार्थना करो। ऐसे अभ्यास के द्वारा मन वश में आता है। †

२३. हताशा से बचो

ये ही बुनियादी साधनाएँ हैं। जो अपने मन को वश में करना चाहते हैं, उन्हें इनका नियमित अभ्यास करना चाहिये। अध्यवसायपूर्वक इन साधनाओं का अभ्यास करते हुए साधक का आदर्श वाक्य रहे--जूझते रहो, जूझते रहो, जूझते रहो; कभी हिम्मत न हारो।

हमें हताशा को नहीं पनपने देना चाहिए, क्योंकि वह उत्साह और शक्ति का नाश करती है। वह अध्यात्म-जीवन की सबसे बड़ी शत्रु है। अतः जहाँ भी वह दिखायी दे, उसका समूल नाश कर दो।

जब हम अत्यन्त खराब मानसिक अवस्था में रहें और ऐसा सोचें कि अब आभ्यन्तरिक संघर्ष के लिए हमें शक्ति नहीं मिल रही है, ऐसे समय हम मन के पीछे

टीचिंग्स ऑफ स्वामी ब्रह्मानन्द'; श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, १९४५, पृ. २२९।

† वही, पृष्ठ १९७।

खड़े हो जायँ और ऐसा देखने का प्रयास करें कि हम अपनी मानसिक अवस्था से सम्पूर्णतः विलग हैं। हम कभी अपने को भली या बुरी किसी भी प्रकार की मानसिक अवस्था के साथ तद्रूप न समझें, क्योंकि हमारा यथार्थ स्वरूप आत्मा तो मन नहीं है।

जब हमारा मन निम्न अवस्था में रहे, तो समस्त निषेधात्मक विचारों को बलपूर्वक यह कहते हुए निकाल देना चाहिए--'मैं देवता हूँ, अन्य कुछ नहीं; मैं साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हूँ--शोक मुझे स्पर्श भी नहीं कर सकता। मैं सच्चिदानन्दस्वरूप--नित्यमुक्त-स्वभाव हूँ।' † अथवा हम दृढ़तापूर्वक यह बारम्बार दुहरा सकते हैं--'यदि ईश्वर हमारे साथ हैं तो कौन हमारा विरोध कर सकता है?' ‡ इस प्रकार मन की निम्न अवस्था दूर हो जायेगी।

२४. आपत्कालीन नियन्त्रण उपाय

यह हममें से प्रत्येक ने अनुभव किया होगा कि निष्ठापूर्वक इन मूलभूत साधनाओं का अभ्यास करते हुए भी हम प्रबल विपरीत शक्तियों, विचारों, संवेगों, प्रवृत्तियों और भावनाओं से मुठभेड़ कर बैठते हैं। ये प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ हमारे मन के समस्त शुभ कार्यों

---

† अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

स्वामी विरजानन्द कृत 'परमार्थ प्रसंग'; द्वितीय संस्करण, पृ० १६, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर।

‡ Epistle of Saint Paul to the Romans, VIII. 31.

को नष्ट करने पर तुल जाती हैं। ऐसी संकटपूर्ण अवस्थाओं में हमें कुछ उच्चशक्तिसम्पन्न आपत्कालीन नियन्त्रण-तंत्रों का विकास करना पड़ता है। दमकल के समान दिन और रात को किसी भी समय हमारे उपाय तैयार रहने चाहिए।

राजयोग के उपदेष्टा पतंजलि इस उपाय को 'प्रतिपक्षभावनम्' (विपरीत विचार उठाना) कहकर पुकारते हैं। सन्दर्भित सूत्र में वे कहते हैं--'जब मनोजय में बाधक विचार उठने लगते हैं, तो विपरीत विचारों का सहारा लेना चाहिए।'†

उदाहरणार्थ, तुम देख रहे हो कि मन में क्रोध की एक बड़ी लहर उठ रही है, जो न केवल तुम्हारी शान्ति को नष्ट करेगी बल्कि तुम्हें बड़ा नुकसान भी पहुँचायेगी। इस लहर को नष्ट करने के लिए तुम्हें क्या करना पड़ेगा? तुम्हें एक विपरीत लहर, प्रेम की लहर उठानी पड़ेगी। यदि तुम्हारे मन में काम की वृत्ति प्रबल हुई तो तुम्हें पवित्रता की एक विपरीत लहर उठानी पड़ेगी। यह बात किसी सन्त-महात्मा के शुद्ध हृदय का तीव्र रूप से चिन्तन करने से सध सकती है।

किन्तु विपरीत विचारों को विरोधी विचारों के ठीक प्रारम्भ में ही उठा देना चाहिए। एक ऐसी अवस्था होती है जब तुम्हारा क्रोध तुम्हारे मन में एक बुलबुले

---

† स्वामी प्रभवानन्द, वही, पृ. १३५-३६।

के आकार का होता है; और एक अवस्था वह भी है जब तुम साक्षात् क्रोध ही बन जाते हो। जब सर्वप्रथम बुलबुलों का उठना शुरू हो, तभी विपरीत विचारों को उठाना चाहिए; अन्यथा यह तरीका काम नहीं देने का। यदि हानिकारक विचारों को पनपने का मौका मिल गया, तो विपरीत विचार शक्तिहीन हो जायेंगे। इससे हम समझ सकते हैं कि हमें अपने विचारों और संवेगों पर कितनी सूक्ष्म नजर रखनी पड़ती है।

यह सम्भव है कि हम प्रथम कुछ बुलबुलों को न पकड़ पायें और उधर हमारा ध्यान तभी जाये जब लहरें काफी ऊपर उठ चुकी हैं। ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए? हमें अपने आपको बलपूर्वक ऐसी दशा से विलग कर लेना चाहिए और एकान्त में जा मन का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए। वहाँ पर मन को मानो गर्दन से पकड़कर हम यह कहें--'अरे मन! यह तेरा सत्यानाश कर देगा। क्या तू इतना भी नहीं देख पाता?' यदि हम इस भाव को बलपूर्वक मन पर अंकित कर दें तो वह उचित वर्तन करने लगेगा, क्योंकि वह नाश को प्राप्त नहीं होना चाहता।

जब एक शिष्य ने स्वामी ब्रह्मानन्द से पूछा, 'यदि मन में कोई विक्षेप लानेवाला विचार बार बार उठता रहे तो मुझे क्या करना चाहिए?' तो उन्होंने उत्तर दिया था--

अपने मन पर इस भाव को बारम्बार अंकित करते रहो कि 'यह विचार मेरे लिए अत्यन्त हानिकारक है। यह मेरा सर्वनाश

कर देगा।' ऐसा करने से मन विक्षेपकर विचार से मुक्त हो जायगा।

मन सुझावों को ग्रहण कर लेता है। तुम उसे जो कुछ सिखाते हो, वह सीख लेता है। यदि तुम विवेक के द्वारा आत्मिक जीवन के आनन्द और पूर्णत्व की छाप उस पर डाल दो तथा सांसारिक आसक्तियों की असारता उसे समझा दो, तो वह अपने को अधिकाधिक ईश्वर से लगा लेगा। †

मन के साथ लड़ने से बढ़कर क्लान्तिप्रद और कुछ नहीं। हम ज्यों ज्यों क्लान्त होते हैं, हमारा मन उतना ही चंचल हो जाता है, और अन्त में हम उसके द्वारा बहा लिये जाते हैं। ऐसी दशा में मन पर सामने से आक्रमण करना अधिक सहायक नहीं होता। तब हम क्या करें? हम अपने को मन से एकरूप समझना बन्द कर दें। यदि हम यह करते हैं तो एक बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न हो जाता है।

जब तक हम अपने को मन से एकरूप समझते हैं, तब तक हम मन का नियन्त्रण नहीं कर सकते। ज्यों ही दार्शनिक चिन्तन के द्वारा हम अपने को मन से अलग करने में सफल होते हैं, त्यों ही मन अपना आधार खो बैठता है और उसे ऐसी कोई जगह नहीं मिलती, जहाँ पर खड़ा हो वह उलझनें पैदा कर सके।

किन्तु इस सन्दर्भ में हम कार्य को तभी पूर्ण और स्थायी भित्ति पर आधारित मानेंगे, जब अहंकार का अज्ञान नष्ट हो जायगा। पतंजलि अहंकार की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि द्रष्टा आत्मा का दर्शन के उपकरण-

† योगसूत्र, २/३३-३४

रूप इन्द्रिय, बुद्धि और मन के साथ तादात्म्य को प्राप्त हो जाना ही अहंकार है।† हमारे समस्त पापों और कठिनाइयों की जड़ इसी अहंकार में है। अतएव मन की विक्षिप्त और विद्रोही अवस्था को नियन्त्रण में लाने का एक प्रभावी उपाय यह है कि हम मन से अपने आप को अलग कर लें।

२५. दिशा-केन्द्रित विचार

काम, क्रोध, लोभ या द्वेष अथवा किसी प्रकार के प्रलोभन के अचानक उपस्थित हो जाने से साधक के अध्यात्म-जगत् में जो एक आपत्कालीन स्थिति पैदा होती है, उसका सामना करने के लिए अन्य दूसरे भी उपाय हैं, जिनका प्रभावी ढंग से उपयोग किया जा सकता है। यदि साधक उपर्युक्त रिपुओं में से किसी एक के द्वारा भी पराजित हुआ, तो मन का निग्रह असम्भव हो जाता है।

जिस समय हम देखें कि हम एक बड़े प्रलोभन में फँस गये हैं, तो ऐसे समय हमें क्या करना चाहिए इस बात की शिक्षा देते हुए एक विदेशी सन्त ‡ निम्नलिखित व्यावहारिक बातों के पालन का सुझाव देते हैं। इसका अभ्यास संसार के किसी भी भाग का व्यक्ति कठिनाइयों में पड़ने पर कर सकता है। ये सिद्धान्त यथोचित परिवर्तनों के साथ सभी प्रकार की आभ्यन्तरिक आपत्कालीन

---

† योगसूत्र, २/६।

‡ सेण्ट फ्रांसिस डी सेल्स कृत 'इन्ट्रोडक्शन टू दि डिवाउट लाइफ,' १९६२, पृष्ठ २४०-४१।

अवस्थाओं में सहायक सिद्ध होंगे --

१. जब बच्चे गाँवों में भेड़िया या भालू देख लेते हैं, तो उनकी जो अवस्था होती है उसका अनुसरण करो। वे तुरत दौड़कर अपने पिता या माता की बाँहों में समा जाते हैं या फिर कम से कम सहायता और रक्षा के लिए उन्हें जोरों से पुकारते हैं। इसी प्रकार तुम ईश्वर की ओर मुड़ो और उनकी कृपा एवं सहायता की याचना करो। हमारे प्रभु ने रक्षा का यही उपाय सिखाया है कि 'प्रार्थना करो, ताकि प्रलोभन तुममें प्रवेश न कर सके'।

२. प्रलोभन के आने पर विरोध प्रदर्शित करते हुए घोषणा करो कि तुम कभी उसके फेर में नहीं पड़ोगे। प्रलोभन के विरोध में ईश्वर से सहायता माँगो। लगातार यह घोषणा करते रहो कि जब तक यह प्रलोभन बना रहेगा, तब तक तुम उसकी कुछ न सुनोगे।

३. जब तुम ये घोषणाएँ करते हो और प्रलोभन की माँग को स्वीकार नहीं करते, तब सीधे प्रलोभन की ओर मत देखो, बल्कि तुम्हारी आँखें हमारे प्रभु पर टिकी हों। यदि तुम प्रलोभन की ओर देखने लगो, विशेषकर तब जब वह बलवान है, तो वह तुम्हारे साहस को डिगा सकता है।

४. अपने विचारों को किसी अच्छी और प्रशंसनीय बात की ओर मोड़ दो। जब अच्छे विचार तुम्हारे हृदय में घुसकर भर जाते हैं, तो वे प्रत्येक प्रलोभन और अशुभ मन्त्रणा को बाहर खदेड़ देते हैं।

५. जिन पर तुम्हारी गुरुवत् श्रद्धा है, उनके समक्ष अपने हृदय को खोल देना और मन में जो भी सुझाव, भावनाएँ या स्नेह की लहरियाँ उठती हैं उन सबको उन्हें बता देना — यह छोटे या बड़े सभी प्रकार के प्रलोभनों के लिए रामबाण दवा है।

६. इस सबके बाद भी यदि प्रलोभन बना ही रहे और हमें सताता रहे, तो अब हमें कुछ नहीं करना है; केवल उसके

विरोध में हम अपनी आवाज को बुलन्द किये रहें। जैसे, जब तक लड़कियाँ 'ना' कहती हैं तब तक उनका विवाह नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यह जीव भी जब तक 'ना' कहता रहता है, तब तक किसी प्रकार का पाप नहीं कर सकता, भले ही प्रलोभन लम्बी अवधि तक क्यों न बना रहे।

मनोवैज्ञानिक शब्दों में कहा जाय तो ऐसी भीतरी दशा में हमें जो करना चाहिए वह यह है कि हम इस शक्तिशाली विरोधी लहर को, जो मन में उठ गयी है, धीरे धीरे शान्त करने का प्रयास करें। यदि हम अनवरत रूप से भगवान् को पुकारें, तो हमारी प्रत्येक साँस ही मानो पुकार बन जाती है और वह एक दूसरी पुकार को जन्म देती है। इस प्रकार बीच में कहीं कोई छिद्र नहीं रह जाता, जिसमें से होकर यह विरोधी विचार मन में घुसे और उसे अपने अधिकार में करे। अपने आप विस्फोट होनेवाले विरोधी विचार का सामना करने के लिए यह आवश्यक है कि हम सहयोगी विचार का अधिक शक्तिशाली विस्फोट साधित करें। लगातार, या अस्त-व्यस्त होकर ही सही, ईश्वर या अपनी उच्चतर आत्मा को पुकारते रहने से, अथवा भगवान् के किसी नाम का या दीक्षित हो तो मन्त्र का अनवरत जाप करते रहने से मन के भीतर एक उच्चतर संवेग उत्पन्न किया जा सकता है, जो आपत्कालीन स्थिति में बागडोर सम्हाल लेगा।

इस बात के लिए हमें विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए कि भले ही विरोधी प्रवृत्तियाँ हम पर हावी हो

जायँ, पर हम भीतर से कभी उनको स्वीकारेंगे नहीं। प्रवृत्तियों का उठना कोई पाप नहीं है। वह तो गलत प्रवृत्तियों को भीतर से जो स्वीकारना है, वही पाप को जन्म देता है।

श्रीरामकृष्ण उपदेश देते हैं --

उनका नाम-गुण-गान करने से देह से सब पाप भाग जाते हैं। देहरूपी वृक्ष में पाप-पक्षी हैं---उनका नाम-कीर्तन मानो ताली बजाना है। ताली बजाने से जिस प्रकार वृक्ष के ऊपर के सभी पक्षी भाग जाते हैं, उसी प्रकार उनके नाम-गुण-कीर्तन से सभी पाप भाग जाते हैं। †

इस सहज उदाहरण के द्वारा श्रीरामकृष्ण एक कठिन परिस्थिति में हमारे लिए एक सरल निदान प्रस्तुत करते हैं। जो लोग सचमुच ऐसी परिस्थिति से बाहर निकलना चाहते हैं, उनके द्वारा इसका सरलतापूर्वक अभ्यास किया जा सकता है।

ठीक इसी प्रकार स्वामी ब्रह्मानन्द उपदेश देते हैं--

जप, जप, जप...। ईश्वर के नाम का चक्र समस्त क्रियाओं के बीच सतत चलता रहे।...हृदय की सारी जलन शान्त हो जायगी। क्या तुम नहीं जानते कि ईश्वर के नाम की शरण लेकर कितने पापी-तापी शुद्ध और मुक्त हो गये हैं ?*

मन पर तीक्ष्ण दृष्टि बनाये रखो, जिससे कोई अवांछनीय विचार या विक्षेप उसमें न घुस जाय। जब कभी ऐसा विचार तुम्हारे मन को घेर लेने की कोशिश करे, तो तुम उसे ईश्वर की ओर मोड़ दो और हृदय से प्रार्थना करो। एवंविध अभ्यास

---

† 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', भाग १, पंचम संस्करण, पृ.१९६।
* स्वामी प्रभवानन्द, वही, पृ. १६६।

के फलस्वरूप मन नियन्त्रण में आता है और पवित्र बन जाता है।†

ऊपर जितने भी उपाय बतलाये गये, वे सभी भगवान् की शरण जाने की सार्थकता प्रदर्शित करते हैं। फिर भी यहाँ इस बात पर बल देना आवश्यक है कि जो ईश्वर में विश्वास करते हैं, उनके लिए ऐसी परिस्थिति में अचूक निदान तो भगवान् के चरणों में पूरी तरह शरण जाना ही है। ईश्वर के सामने अपने हृदय को खोल दो और उनकी कृपा पाने के लिए व्याकुल होकर रोओ। भगवान् स्वयं भक्त से अपनी शरण में आने के लिए कहते हैं और यह भरोसा देते हैं--'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'--मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा।‡ वे और भी घोषणा करते हैं--'न मे भक्तः प्रणश्यति'--मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।* एक दूसरा सुप्रसिद्ध हिन्दू शास्त्र यह विश्वास दिलाता है कि जो दुःखी और हताश होकर जगन्माता की शरण जाते हैं, माता उनके दुःखों को दूर करती है।§ वही शास्त्र जगन्माता की स्तुति करते हुए कहता है--

जहाँ राक्षस, जहाँ भयंकर विषवाले सर्प, जहाँ शत्रु, जहाँ लुटेरों की सेना, जहाँ दावानल हो, वहाँ तथा समुद्र के बीच में भी

---

†वही, पृ ११४।

‡भगवद्गीता, १८/६६।

*वही, ६/३१।

§शरणागत-दीनार्त-परित्राण-परायणे।
सर्वस्यार्ति हरे देवि नारायणि नमोऽस्तुते॥
--दुर्गासप्तशती, ११/१२।

साथ रहकर तुम विश्व की रक्षा करती हो।†

यदि यह सत्य है--और हम विश्वास करते हैं कि यह सत्य है--तो हमारी विपत्ति और व्यक्तिगत जीवन में दावानल के समय क्या वह हमारी रक्षा के लिए नहीं आयेगी, यदि हम उसकी शरण जायँ ?

ठीक इसी प्रकार ईसामसीह भी पीड़ितों को पुकारकर कहते हैं--

तुम लोग जो परिश्रम करते हो और भारी बोझ से लदे हो, मेरे पास आओ, तुम सभी आओ, मैं तुम्हें आराम दूँगा। ‡

भक्तों के लिए भगवान् की ओर से ये स्पष्ट निमंत्रण प्राप्त हैं। यदि हम यह निमन्त्रण स्वीकार न कर दुःखी बने रहें तो इसमें किसका दोष? अतएव भक्त को भीतरी आपत्कालीन स्थिति का सामना करने के लिए पर्याप्त और बहुत से उपाय उपलब्ध हैं। उसे अपनी योग्यता और आवश्यकतानुसार इनमें से किसी एक उपाय को अथवा कुछ उपायों को मिलाकर काम में लाना मात्र होगा।

अब प्रश्न उठता है, यदि कोई व्यक्ति नास्तिक है, तो उसे ऐसी आभ्यन्तरिक आपत्कालीन स्थितियों में क्या करना चाहिए ?

---

† रक्षांसि यत्रोग्रविषाश्च नागा
यत्रारयो दस्युबलानि यत्र।
दावानलो यत्र तथाब्धिमध्ये
तत्र स्थिता त्वं परिपासि विश्वम्॥

--दुर्गासप्तशती, ११/३२।

‡ बाइबिल, मैथ्यू, ११/२८।

वह सबसे पहले अपने को उस परिस्थिति से अलग कर ले और अपनी उच्चतर आत्मा के साथ मानो दूर तक वेग से टहलने निकल जाय; साथ ही वह अपने मन को किसी उदात्त और उन्नयन करनेवाली वस्तु में लगाने की कोशिश करे। यदि विश्वास के अभाव में वह ईश्वर के सामने नहीं रो सकता और अपने अन्तःकरण को दैवी निरीक्षण के लिए नहीं खोल सकता, तो वह प्रकृति के पास जाय--किसी कलकल करती हुई नदी, नीला वितान ओढ़े आकाश, सर-सर बहती हुई हवा, गगनचुम्बी पर्वत-शिखर, हहराता सागर अथवा उदीयमान मरीचिमाली के पास चला जाय और अपनी सारी गाथा निष्कपट भाव से निवेदित कर दे तथा अपने आप को लाँघ जाने के लिए समझ और क्षमता की याचना करे।

इससे भी अधिक अच्छा उपाय तो यह होगा कि वह किसी बुद्धिमान्, विश्वसनीय और चरित्रवान् निःस्वार्थी व्यक्ति के पास चला जाय तथा उनको अपनी सारी भीतरी दशा बताकर उनसे सलाह और सहायता की याचना करे। पर ऐसे व्यक्ति का चुनाव बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए। यदि कोई विश्वसनीय व्यक्ति नहीं मिला, तो अपने भीतर की लड़ाई को अकेले ही लड़ना श्रेयस्कर है।

आपत्कालीन स्थिति में एक अविश्वासी व्यक्ति को भीतरी कठिनाइयों की मानसिक चारदीवारी के बाहर निकल आना चाहिए--ऐसे खुले में, जहाँ वह पर लगाकर

उड़ सके और विक्षोभ को अपनी हालत पर छोड़ दे। जब कभी उसके सामने ऐसी मनोवैज्ञानिक अवस्था उत्पन्न हो, तो झट उसे अपने ही बनाये गये चोर-दरवाजे से निकलकर इस बृहत्तर अर्थपूर्ण विश्व में चले आना चाहिए। वह किसी कविता की कोई प्रेरक कड़ी पकड़कर, गीत के द्वारा, किसी महान् कलाकृति का स्मरण करके अथवा किसी मनीषी के प्रेरणापूर्ण शब्दों को मन में उठाकर उपर्युक्त परिस्थितियों में से निकलने का चोर-दरवाजा बना सकता है। इनमें से कोई भी एक उसके लिए शाश्वत में जाने की खिड़की बन सकता है और उसे अपनी उच्चतर आत्मा तक ऊपर उठने की शक्ति प्रदान कर सकता है। किन्तु हम स्मरण रखें कि संत्रस्त करनेवाली भीतरी अवस्था से बचाव एक अस्थायी निदान के रूप में भले ही अपरिहार्य है, तथापि वह समस्या का मूलभूत या अन्तिम निदान नहीं है। इसके लिए तो अविश्वासी या नास्तिक को पतंजलि द्वारा उपदिष्ट इन निम्नलिखित चिकित्सीय और आध्यात्मिक मूल्य रखनेवाले अनुशासनों का नियमित अभ्यास लाभप्रद होगा--

अथवा वह उस ज्योतिर्मय प्रकाशपुंज पर ध्यान करने की कोशिश कर सकता है, जो समस्त शोकों से परे है; अथवा ऐसे हृदय पर जिसने इन्द्रिय-विषयों के प्रति समस्त आसक्तियों का त्याग कर दिया है; अथवा अन्य किसी पर भी, जो उसे अच्छा मालूम पड़ता है।* (क्रमश:)

---

* योगसूत्र, १/३६,३७,३९।

स्वामी प्रकाशानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

सन् १८९० के आसपास कलकत्ता के रिपन कॉलेज के कुछ विद्यार्थी श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी शिष्यों की तपस्या से आकर्षित होकर वराहनगर मठ में आने-जाने लगे थे। रिपन कॉलेज के अध्यापक श्री महेन्द्रनाथ गुप्त ने इन्हें श्रीरामकृष्ण देव के सम्बन्ध में बहुत सारी बातें बतायी थीं तथा उनकी जिज्ञासा को देखकर उन्हें वराह-नगर मठ जाकर त्यागी-संन्यासियों से मिलने का परामर्श दिया था। ये सभी छात्र उच्चमना और आध्यात्मिकता से युक्त थे तथा श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी शिष्य भी इनकी निष्ठा और भगवत्प्रेम को देखकर इनसे काफी स्नेह किया करते थे। सुशील इनमें सबसे छोटा था इसलिए संन्यासियों का स्नेह स्वभावतः उस पर अधिक था। स्वामी रामकृष्णानन्द इन छात्रों से बहुत स्नेह करते थे तथा स्वामी योगानन्द इन्हें निरन्तर त्याग-वैराग्य की अनुप्रेरणा देते थे। ये सब लोग मठ की दालान में बैठकर स्वामी योगानन्द की बातों को ध्यानपूर्वक सुना करते थे। सुशील भी योगेन महाराज की प्रत्येक बात को सुनकर हृदयंगम करने की कोशिश करता था। कभी कभी कोई बात समझ न आने पर वह बालकोचित चंचलता के कारण योगेन महाराज को बीच में ही टोक दिया करता था। तब योगेन महाराज प्रेमपूर्वक उससे कहते, "अरे तू तो बड़ा बुद्धू है।"

उनकी ताड़ना से सुशील कुछ समय के लिए अप्रतिभ तो हो जाता, पर बाद में वह पुनः मनोयोग से उनकी बातें सुनने लगता।

कॉलेज की पढ़ाई करते समय सुशील को पूर्वी और पश्चिमी दर्शन का अध्ययन करने का मौका मिला। समय मिलने पर वह अपने समभावी मित्रों के साथ दार्शनिक विषयों पर चर्चा करता और प्रति सन्ध्या ध्यान-धारणा और धर्म-प्रसंग में सम्मिलित होता। इन सब बातों से धीरे धीरे उसकी अन्तर्मुखता बढ़ती जा रही थी और उसकी अन्तर्निहित आध्यात्मिकता का उदय होने लगा था। सन् १८९१-९२ में वह कुछ मित्रों के साथ जयरामवाटी जाकर श्रीमाँ सारदा देवी के दर्शन कर आया था। श्रीमाँ ने उसे मंत्र-दीक्षा दी थी। फलतः उसकी आध्यात्मिकता तीव्र वेग से प्रवाहित होने लगी।

इस बीच सुशील के एक साथी कालीकृष्ण ने गृह त्यागकर वराहनगर मठ में रहना आरम्भ कर दिया था, पर कालीकृष्ण का स्वास्थ्य ठीक नहीं था, अतः श्रीमाँ के आदेश से उसे स्वास्थ्य-लाभ हेतु घर आना पड़ा। कालीकृष्ण से मिलकर सुशील और अन्य मित्र बड़े आनन्दित हुए। मठ-वास करते समय कालीकृष्ण को अनेकानेक आध्यात्मिक निर्देश प्राप्त हुए थे। इन्हीं निर्देशों के अनुरूप वह घर में रहकर ध्यान-साधना किया करता था। सुशील तथा अन्य मित्र प्रतिदिन कालीकृष्ण के घर जाया करते और उससे मठ के साधुओं की तथा श्रीराम-

कृष्ण देव की बातें सुना करते। उनकी गोष्ठी में ठाकुर के परम भक्त गोपालचन्द्र घोष भी आया करते थे। उनके मुख से ठाकुर के काशीपुर और दक्षिणेश्वर के अनेक प्रसंग इन छात्रों ने सुने थे। इस नियमित सत्संग से सुशील आत्मविभोर होता जा रहा था तथा उसके सांसारिकता के बन्धन क्रमशः शिथिल होते जा रहे थे।

उन दिनों कलकत्ता में स्वामी विवेकानन्दजी की अनेकानेक कहानियाँ प्रचलित थीं। विदेशों में उनके वेदान्त-प्रचार की जानकारी हमेशा समाचार-पत्रों में छपा करती थी। सुशील यह सब हमेशा पढ़ा करता था। इससे उसके मन में एक नयी दैवी तरंग का उदय हुआ था। रात-दिन वह मित्रों से स्वामीजी की ही चर्चा करता रहता। उसकी विचारसरणी एक नयी दिशा में प्रवाहित हो रही थी। अब सुशील के लिए घर में रहना सम्भव नहीं था। उन दिनों वह बी० ए० की परीक्षा की तैयारी में लगा हुआ था। जब उसने श्रीमाँ सारदा को अपनी मानसिक दशा बतायी, तब श्रीमाँ ने साधु-जीवन बिताने का उसका निश्चय जानकर उसे आशीर्वाद दिया था। इसके बाद सुशील ने संसार का सर्वतोभावेन त्याग कर दिया और सन् १८९६ की झूलन-पूर्णिमा के दिन वह आलमबाजार मठ में आ पहुँचा। कुछ समय बाद वृन्दावन में स्वामी प्रेमानन्द के साथ उसने साधन-भजन में कुछ दिन व्यतीत किये।

सन् १८९७ की फरवरी में स्वामी विवेकानन्द वापस

लौटे। वे तो सुशील के जीवनाराध्य थे। मठ लौटने पर स्वामीजी के सान्निध्य में सुशील की आध्यात्मिकता परिस्फुट होने लगी। कुछ ही दिनों में वह स्वामीजी का स्नेहपात्र बन गया। स्वामीजी ने सबसे पहले जिन ब्रह्मचारियों को संन्यास-दीक्षा दी थी, उनमें सुशील भी था। युगाचार्य विवेकानन्द के अग्नि-मंत्र में दीक्षित होकर सुशील स्वामी प्रकाशानन्द बन गया। स्वामीजी ने उनसे कहा था––"संन्यास के बिना कोई ब्रह्मज्ञ नहीं हो सकता। त्याग के बिना भक्ति-मुक्ति नहीं मिल सकती। त्याग, त्याग, त्याग––नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय !" स्वामीजी के वचनों को सुनकर प्रकाशानन्द ने एक महान् उद्दीपना का अनुभव किया था और उनके देह-मन में एक अपूर्व रोमांच-सा दौड़ गया था।

स्वामी प्रकाशानन्द का पूर्व नाम था सुशीलचन्द्र चक्रवर्ती। उनके पिता श्री आशुतोष चक्रवर्ती बड़े सम्भ्रान्त एवं धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। कलकत्ता के सर्पेंटाइन लेन स्थित उनके घर में ८ जुलाई सन् १८७४ को सुशील का जन्म हुआ था। सुशील के बड़े भाई सुधीर भी कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द के प्रमुख पार्षद स्वामी शुद्धानन्द के नाम से विख्यात हुए और रामकृष्ण मठ के पाँचवें अध्यक्ष बने। सुशील का पारिवारिक वातावरण स्वभावतः धार्मिक था तथा उनके मन में माता के द्वारा धार्मिक संस्कार रोपे गये थे। बालक सुशील प्रतिदिन मातृमुख से पुराणों एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों की कहानियाँ

सुना करता तथा उस पर उसके बड़े भाई सुधीर का भी प्रभाव पड़ा। दोनों ही आध्यात्मिकता से युक्त थे तथा दोनों का जीवन-प्रवाह एक ही दिशा की ओर उन्मुख था। सुशील स्वभावत: सुधीर के अनुगामी थे, इसलिए सुधीर के मित्र उनके भी मित्र बन गये। कालीकृष्ण, विमल, हरिपद और गोविन्द सुकुल सुधीर के साथ एक ही कक्षा में पढ़ते थे तथा ये ही कालान्तर में स्वामी विरजानन्द, स्वामी विमलानन्द, स्वामी बोधानन्द और स्वामी आत्मानन्द के नाम से विख्यात हुए। सुशील इनसे दो कक्षा नीचे थे। रिपन कॉलेज में पढ़ाई करते समय ये सब इकट्ठे होकर ध्यान-धारणा और साधन-भजन किया करते थे।

सुशील सन् १८९० में अपने भाई के साथ वराह-नगर मठ पहुँचे थे। यहाँ ठाकुर की त्यागी-सन्तानों की तपस्या और तितिक्षा को देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द के स्वर्गिक स्पर्श से जब वे स्वामी प्रकाशानन्द बने, तब उनका जीवन आध्यात्मिकता के प्रगल्भ प्रकाश से आपूरित हो उठा। वे स्वामीजी के पादप्रदेश के घनिष्ठ निवासी बन गये। एक बार स्वामीजी ने उनके कन्धे पर हाथ रखकर सस्नेह कहा था, "वत्स ! प्रभु के कार्य में मैं अपने प्राणों को खपा रहा हूँ। तुम भी अपने जीवन का इस कार्य के लिए होम कर दो। और भी बहुत से जीवन ठाकुर की सेवा में उत्सर्गित होंगे। सभी लोगों के समवेत

आत्मोत्सर्ग से एक महान् व्रत की संसिद्धि होगी।" प्रकाशानन्द ने गुरुदेव के आह्वान पर अपना जीवन भगवत्कार्य के निमित्त समर्पित कर दिया। वे उनकी भावराशि के मूर्त विग्रह बन गये। कुछ ही समय में वे स्वामीजी के अन्तरंग शिष्य के रूप मे प्रख्यात हो गये।

प्रकाशानन्द शक्तिशाली वक्ता थे। उन्होंने स्वामीजी की वक्तृता-शैली का बड़ी कुशलता से अनुकरण किया था। स्वामीजी के आदेश से वे नियमित रूप से साधुओं को वक्तृता का अभ्यास कराया करते। एक बार उन्होंने 'आत्मतत्त्व' पर हूबहू स्वामीजी की शैली में भाषण देकर सबको आश्चर्यचकित कर दिया था।

सन् १८९७ में स्वामीजी के आदेश से दक्षिणेश्वर ग्राम में अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए उन्होंने सेवा-कार्य का संचालन किया। सन् १८९९ में स्वामीजी ने उन्हें और विरजानन्द को पूर्व बंगाल में धर्मप्रचार के लिए ढाका भेजने का विचार किया। उन्होंने दोनों शिष्यों को मन्दिर में बुलाया और ध्यानोपरान्त उनके सिर पर वरद हस्त रखते हुए बोले, "विश्वास करो, उनकी शक्ति तुम्हारे भीतर संचरित हो रही है।" गुरुदेव से अमोघ शक्ति प्राप्त कर प्रकाशानन्द ने विरजानन्द के साथ ढाका प्रस्थान किया। उन्होंने समूचे पूर्वी बगाल में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का व्यापक प्रचार किया। उन्होंने ही ढाका में मिशन की शाखा स्थापित करनें की प्रेरणा दी। एक बार वे श्रीरामकृष्ण देव के

प्रसिद्ध गृहस्थ भक्त नाग महाशय से मिलने देवभोग भी गये थे। नाग महाशय उन्हें देखकर हर्ष में भरकर नाचते हुए कहने लगे, "आज कितना बड़ा सौभाग्य है, कितना बड़ा सौभाग्य है ! महापुरुषों ने कृपा कर अपनी चरणधूलि दी है।"

कुछ समय बाद स्वामीजी ने प्रकाशानन्द को पुनः मठ बुला लिया। वे अब 'उद्बोधन' बँगला मासिक का प्रबन्ध तथा अन्य सेवा-कार्य करने लगे। सन् १९०० में वे बोधानन्द के साथ हिमालय की यात्रा पर निकले। देवतात्मा हिमालय के दर्शन से उन्हें अनेक विलक्षण अनुभूतियाँ हुईं। जब वे बदरिकाश्रम के दर्शन कर नीचे उतर रहे थे, तब उन्हें महिला-तीर्थयात्रियों का एक दल मिला। एक स्त्री ने उन्हें बताया कि एक महिला पीछे छूट गयी है। यदि वह उनको मिले तो वे कह दें कि वह इसी रास्ते चलकर उन लोगों से मिल जाय। कुछ ही दूर बढ़ने पर उन्हें वह महिला-यात्री दिखी। उसकी गोद में चार-पाँच महीने का एक बालक बड़ी निश्चिन्तता से सो रहा था और वह बर्फीले पथ पर बढ़ती चली जा रही थी। उसे देखकर प्रकाशानन्द के मन में विचार उठा कि क्या इसके मन में अपनी सन्तान के प्रति तनिक भी ममता नहीं है जो इतने बियाबान, जंगली जानवरों से भरे रास्ते पर कड़कती ठण्ड में छोटे बच्चे को साथ लेकर तीर्थयात्रा पर निकल पड़ी है। हठात् उन्हें बोध हुआ कि यही वैदिक भारत का सनातन आदर्श है। यहाँ धर्म का

स्थान प्रथम है तथा पुत्र-परिजन आदि बाद में आते हैं।

इसके उपरान्त प्रकाशानन्द कुछ समय तक हरिद्वार और हृषीकेश में तपस्या-रत रहे। कनखल में स्वामीजी के एक अन्य शिष्य स्वामी कल्याणानन्द ने सेवाश्रम की स्थापना की थी। कुछ दिन वहाँ रहकर वे मायावती की ओर बढ़े। सन् १९०२ से १९०६ तक प्रकाशानन्द मायावती, अलमोड़ा स्थित अद्वैत आश्रम में 'प्रबुद्ध भारत' के प्रकाशन तथा अन्य सेवा-कार्यों में सहयोग देते रहे। सन् १९०६ के अप्रैल मास में उन्हें सैनफ्रांसिसको के वेदान्त-सेंटर में 'हिन्दू मन्दिर' के प्रतिष्ठाता स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी की सहायता करने एवं वेदान्त-प्रचार के लिए भेजा गया। त्रिगुणातीतानन्दजी उन्हें सहकारी के रूप में प्राप्त कर अतिशय प्रसन्न हुए। प्रकाशानन्द की सहायता से वेदान्त-प्रचार का कार्य बहुमुखी हो गया। वेदान्त के अध्ययन-अध्यापन एवं ध्यान-उपासना के लिए एक आश्रम की स्थापना की गयी तथा 'वाइस ऑफ फ्रीडम' नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित होने लगा। स्वामी त्रिगुणातीतानन्द और प्रकाशानन्द के कार्य की महत्ता को देखकर कैलिफोर्निया की स्टेट यूनिवर्सिटी ने सन् १९०७ में उन दोनों का सार्वजनिक रूप से सम्मान किया। इस अवसर पर प्रोफेसर बेंजामिन ह्वेलर ने कहा था, "आज हम प्राच्य के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन प्रारम्भ कर रहे हैं तथा पाश्चात्य संस्कृति पर भारत के अब तक उपेक्षित प्रभाव को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करना

आरम्भ कर रहे हैं।" विश्वविद्यालय ने इसके पूर्व रूजवेल्ट के अलावा अन्य किसी अतिथि का सम्मान नहीं किया था, विदेशियों के सम्मान की तो बात ही दूर थी !

सन् १९१४ में आरिगन और वाशिंगटन क्षेत्र में त्रिगुणातीतानन्दजी के निर्देशन में प्रकाशानन्द ने तुमुल गति से धर्मप्रचार आरम्भ कर दिया। इसी समय सैन-फ्रांसिसको में 'पैसिफिक वेदान्त सेण्टर' की भी स्थापना की गयी। इस बीच एक भयानक दुर्घटना में स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी का निधन हो जाने पर प्रकाशानन्द पर गुरुतर भार आ पड़ा। वे सन् १९१६ में वेदान्त समिति के अध्यक्ष बने तथा 'वाइस ऑफ फ्रीडम' का प्रकाशन बन्द कर जिज्ञासुओं को वेदान्त की गहन शिक्षा देने में प्रवृत्त हो गये। प्रकाशानन्द के गम्भीर व्यक्तित्व, सरल जीवन और गहन शास्त्र-ज्ञान से पाश्चात्य जन चकित थे। उन्होंने कैलिफोर्निया क्षेत्र के विभिन्न नगरों में प्रचार-कार्य किया। सन् १९१५ में उन्हें विश्वविख्यात 'पनामा प्रदर्शनी' में वेदान्त पर व्याख्यान देने के लिए बुलाया गया। वे आन्तर्जातिक बौद्ध महासभा के सह-सभापति भी बनाये गये थे। सैनफ्रांसिसको से कुछ दूर स्थित, स्वामी तुरीयानन्दजी द्वारा स्थापित 'शान्ति आश्रम' भी 'हिन्दू मन्दिर' के द्वारा परिचालित होता था। प्रकाशानन्द प्रति वर्ष 'हिन्दू मन्दिर' के शिक्षार्थियों को लेकर 'शान्ति आश्रम' जाते और ध्यान-साधना में लीन हो जाते कैलि-फोर्निया के पर्वतीय प्रदेश में स्थित यह 'शान्ति आश्रम' जन-

कोलाहल से दूर, हिमालय की तपोभूमि के समान प्रतीत होता था। यहाँ शिक्षार्थी भारतीय साधुओं का-सा अनुशासित जीवन बिताते। रात्रि को धूनी जलायी जाती और उसके चारों ओर बैठकर शास्त्र-चर्चा की जाती। 'शान्ति आश्रम' में प्रकाशानन्द का व्यक्तित्व और भी मधुर हो उठता। पर रात-दिन अक्लान्त भाव से परिश्रम करने के कारण उनका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। फलतः कुछ दिनों तक विश्राम करने के लिए उन्होंने भारत लौटने का विचार किया।

सन् १९२२ में प्रकाशानन्द ब्रह्मचारी गुरुदास और कुछ पाश्चात्य भक्तों के साथ भारत लौटे। बहुत दिनों बाद अन्तरंग बन्धुओं से मिलकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई तथा उनका स्वास्थ्य भी सुधरने लगा। किन्तु निरन्तर बन्धु-बान्धवों एवं जिज्ञासु भक्तों से मिलने-जुलने तथा सभा-समितियों में व्याख्यान देते रहने के कारण उनका स्वास्थ्य फिर से गिर गया। कलकत्ते के लोग अमेरिका में प्रकाशानन्द के धर्म-प्रचार के कार्य से मुग्ध थे। फलतः उनका नागरिक अभिनन्दन किया गया और उन्हें मानपत्र समर्पित किया गया। इस प्रकार उन्हें भारत में आवश्यक विश्राम मिल ही नहीं पाया। सन् १९२३ के अप्रैल में उन्होंने फिर से बिदेश की यात्रा की। इस बार मठ से दो सहयोगी भी उनके साथ गये।

उनके आगमन से सैनफ्रांसिसको के भक्तगण आनन्दित हो उठे। फिर से भारतीय भावधारा के प्रसार का कार्य

तीव्र गति से चलने लगा। स्वामी विवेकानन्द के भाव-प्रचार की प्रेरणा प्रकाशानन्द को निरन्तर व्याकुल बनाये रखती। विश्राम उन्हें मिल नहीं पाता था, फलस्वरूप उनका शरीर क्लान्त और अवसन्न होता जा रहा था। यदि कोई उन्हें विश्राम की सलाह देता, तो वे सहास्य कहते, "जब मेरा काम समाप्त हो जायेगा, तब मैं विश्राम करूँगा। मेरे जीवन का व्रत समस्त कैलिफोर्निया क्षेत्र में स्वामीजी के सन्देश का प्रचार करना है।"

प्रकाशानन्द ने अपने इस महान् जीवन-व्रत की संसिद्धि में अपना सारा जीवन खपा दिया। उनके नेतृत्व और प्रेरणा से स्थान स्थान पर वेदान्त-प्रचार के नये नये केन्द्रों की स्थापना की गयी। सन् १९२६ में पोर्टलैंड में 'वेदान्त समिति' का गठन किया गया। प्रबल कर्म-व्यस्तता के बीच भी प्रकाशानन्द ध्यान-धारणा और शास्त्र-चर्चा के लिए समय निकाल लिया करते थे। बीच बीच में वे शिक्षार्थियों के साथ 'शान्ति आश्रम' में जाकर ध्यान-साधना में लीन हो जाते। उनके निर्देशन में पाश्चात्य शिक्षार्थियों की पर्याप्त आध्यात्मिक प्रगति हो रही थी। किन्तु कठोर परिश्रम से उनका शरीर छीजता जा रहा था। यद्यपि उन्हें बहुमूत्र व्याधि हो गयी थी, पर एक क्षण के लिए भी उनका मुखमण्डल म्लान प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने अपना जीवन-व्रत पूरा कर लिया था, इसलिए वे सन् १९२७ की १३ फरवरी को चिर विश्राम करने हेतु श्रीगुरु के पाद-प्रदेश में लौट गये।

❀

रामराज्य का उदय

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

भगवान् राम का चरित्र मानो यज्ञ-कर्म है। गीता और मानस में यज्ञ का बड़ा सुन्दर विश्लेषण किया गया है। मनुष्य के कर्म दो प्रकार के होते हैं--एक तो वह जिसे वह अपने स्वार्थ के लिए करता है और दूसरा वह जिसे यज्ञ की भावना से करता है। जिस कर्म में स्वार्थ है, वह चोरी का कर्म है तथा जो यज्ञ की भावना से किया जाता है, वह लोक-कल्याण का कर्म है, पुण्य कर्म है। गीता में कहा गया है कि जब यज्ञ में आहुति दी जाती है तो उससे आकाश में जाकर मेघ बनता है, मेघ से वृष्टि होती है और वृष्टि से अन्न होता है। एक सज्जन ने मुझसे कहा कि खेत में बीज डालने से ही तो अन्न प्राप्त हो जाता है, फिर अन्न प्राप्त करने के लिए यज्ञ के द्वारा इतने घूमकर जाने की क्या आवश्यकता? यह ठीक है कि खेत में बीज डालने से अन्न प्राप्त होगा, पर यह अन्न केवल आपका ही होगा, दूसरे का नहीं। किन्तु यज्ञ में आहुति देने के फलस्वरूप जो मेघ बनेंगे, उनसे केवल आपके ही खेत में वर्षा नहीं होगी, सभी खेतों में होगी, उससे सभी का कल्याण होगा। अपने लिए किये गये कर्म में और यज्ञ में यही अन्तर है। यज्ञ के द्वारा ही यह सारा संसार बना हुआ है।

भगवान् राम ने रामायण में सात यज्ञों के माध्यम से यज्ञ-कर्म का उपदेश दिया है। रामायण में सात यज्ञों की चर्चा है। तीन यज्ञ तो वे हैं जिन्हें भगवान् ने नष्ट किया, तीन वे जो उन्होंने पूरे किये और अन्तिम यज्ञ श्रीभरतजी का चरित्र है, जो इन सातों में श्रेष्ठ है। इस अन्तिम यज्ञ के माध्यम से जीवन में यज्ञ-कर्म का रहस्य समझ में आ जाता है। गोस्वामीजी लिखते हैं--

समन अमित उतपात सब भरत चरित जपजाग।

--भरतजी का चरित्ररूपी यज्ञ समस्त अगणित उत्पातों को शान्त करनेवाला है। नष्ट होनेवाले तीन यज्ञ थे--दक्ष का यज्ञ, रावण का यज्ञ और मेघनाद का यज्ञ। और पूरे होनेवाले तीन यज्ञ थे--दशरथ का यज्ञ, विश्वामित्र का यज्ञ तथा जनक का यज्ञ। इसका तात्पर्य क्या? जहाँ यज्ञ नष्ट हुआ, वहाँ यज्ञ-कर्म नहीं था, केवल यज्ञ का स्वाँग था। यह यज्ञ-कर्म क्या है? इसका संकेत गोस्वामीजी प्रारम्भ से ही देते हैं। दशरथजी के कोई पुत्र न था। व्याकुल हो वे गुरुदेव वसिष्ठ के पास गये। वसिष्ठजी ने उपाय बताया--यज्ञ करो। शृंगी ऋषि को बुलवाकर यज्ञ किया गया। अग्निदेव प्रकट हुए और उन्होंने खीर देकर कहा--

यह हबि बाँटि देहु नृप जाई।

--राजन्! इसे ले जाकर बाँट दो। यह भी एक यज्ञ हो गया। अकेले खा लेने से यह यज्ञ नहीं होता, पर बाँटने से यह यज्ञ बन गया। इसके बाद चार पुत्र हुए। विश्वा-

मित्र एक दिन आये। महाराज दशरथ ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया और बड़ी प्रसन्नता से बोले--

केहि कारन आगमन तुम्हारा।
कहहु सो करत न लावउँ बारा॥

--मुनिवर! किस हेतु आपका शुभागमन हुआ है? कहिए। आपके कहने में देर होगी, पर मेरे करने में नहीं। यह सुन विश्वामित्र मन ही मन हँसे कि जब मेरी बात सुनोगे तब पता चलेगा। कहावत है न, ठठेरे ठठेरे में बदलौवन नहीं होता! दशरथ और विश्वामित्र दोनों एक ही तरह के मिल गये थे; क्योंकि जब दशरथजी ने मनु के रूप में तप किया था तो भगवान् प्रकट हुए और बोले -- मैं बड़ा दानी हूँ, जो माँगना हो माँग लो। मनुजी ने हँसकर भगवान् से कहा--भगवन्! मुझे दान नहीं चाहिए, मैं तो दानी को लेना चाहता हूँ। अतः भगवान् को उनका पुत्र बनना पड़ा। और अब जब विश्वामित्र आये तो दशरथजी ने उनसे कहा--माँग लीजिए, जो चाहिए! विश्वामित्र भी चतुर माँगनेवाले ठहरे; बोले--हम भी दान लेने नहीं आये हैं, हम तो दानी को लेने आये हैं--

अनुज समेत देहु रघुनाथा।

--भाई सहित रघुनाथजी को दे दीजिए। अब तो दशरथजी की व्याकुलता की सीमा नहीं रही। कह उठे--मुनिवर! मैं सब कुछ दे सकता हूँ, पर--

राम देत नहिं बनइ गोसाईं।

——राम को तो नहीं दे सकता। इतने में वसिष्ठजी आ गये। उन्होंने दशरथ को बहुत समझाया और कहा——दशरथ ! तुम्हें देना पड़ेगा।

——क्यों, महाराज ?

——तुम्हें याद है, जब तुम्हारे कोई पुत्र नहीं था तब एक दिन तुम मेरे पास आये थे ?

——आया था, महाराज !

——पुत्र कैसे प्राप्त हुआ ?

——आपने यज्ञ कराया, उसके फलस्वरूप।

वसिष्ठ तुरन्त बोले——दशरथ ! यज्ञ के द्वारा तुम्हें पुत्र मिला। आज उसी यज्ञ पर संकट आया हुआ है, तो क्या वह पुत्र तुम्हारे पास ही बना रहेगा ? कदापि नहीं। वह यज्ञ का पुत्र है, यज्ञ की रक्षा के लिए उसे देना होगा।

कहने का यह एक चतुर तरीका है। माँगना इस प्रकार कि कहीं दुख न हो। लोभी से कुछ माँगिए तो वह नहीं देगा। पर उससे कहिए कि भाई, हम ब्याज सहित लौटा देंगे, तो तुरन्त दे देगा। वसिष्ठजी ने भी कह दिया कि दशरथ, जरा देकर तो देखो, कितने ब्याज के साथ वापस आता है। देने में कोई हानि थोड़े ही होती है, तुम इतना घबराते क्यों हो ?

और हुआ भी यही। दशरथजी ने दोनों भाइयों को दे दिया और जब उनका विवाह हुआ तो दशरथजी बड़े प्रसन्न हुए। भेजा तो था दो को और जब वे लौटे तो आठ को लेकर लौटे। गोस्वामीजी लिखते हैं——

मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि ।
जनु पाए महिपाल मनि क्रियन्ह सहित फल चारि ।।

विश्वामित्र दोनों पुत्रों को ले जाते हैं । जब उनका यज्ञ समाप्त हो गया तो उन्हें चाहिए था कि दोनों भाइयों को दशरथजी को लौटा दें । पर वे नहीं लौटाते तथा बिना किसी निमंत्रण के उन्हें जनक के यहाँ ले जाते हैं । उन्हें तो निमंत्रण था, पर भगवान् राम को जनक का कोई निमंत्रण नहीं था । एक चक्रवर्ती सम्राट् का पुत्र बिना निमंत्रण के तथा बिना दशरथजी की आज्ञा के स्वयंवर में चला जाय, क्या यह अनुचित बात नहीं थी ? पर विश्वामित्र को यह अनुचित नहीं लगा । उनका भाव यह था कि जहाँ यज्ञ हो और यज्ञ पर संकट आया हुआ हो, वहाँ तुम्हें जाना ही चाहिए । इसमें पिता की आज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं । तुम यज्ञ द्वारा प्राप्त हुए हो । यज्ञ की रक्षा करना तुम्हारा परम कर्तव्य है । तो, प्रभु क्या करते हैं ?--

धनुषजग्य सुनि रघुकुल नाथा ।
हरषि चले मुनिवर के साथा ।।

यही यज्ञ-कर्म है । यज्ञ में देने की परम्परा है । सबको इसमें देना पड़ता है । दशरथ को देना पड़ा, विश्वामित्र को देना पड़ा, जनक को जानकीजी को अर्पित करना पड़ा । इस प्रकार यह यज्ञ आगे बढ़ता जाता है । जीवन में भी यह यज्ञ-कर्म परम कल्याण का हेतु है और यहाँ इसका अर्थ होता है प्राप्त वस्तु का वितरण

करना। जहाँ यह यज्ञ-कर्म रुका कि अमंगल शुरू हुआ।

भगवान् राम के चरित्र में तीन स्त्रियाँ मुख्य रूप से आती हैं। एक तो उनके चार रूपों में प्रकट होने का कारण कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी ये तीन माताएँ हैं। और दूसरे, उनके तीन गमनों का कारण भी तीन स्त्रियाँ होती हैं। विश्वामित्र के साथ में गमन ताड़का के कारण, वन में गमन मन्थरा के कारण तथा लंका में गमन शूर्पणखा के कारण। ये तीन स्त्रियाँ मानो तीन वृत्तियाँ हैं––ताड़का मोह की, मन्थरा लोभ की तथा शूर्पणखा काम की। भगवान् राम इनके विरुद्ध संघर्ष करते हैं। महाराज दशरथ राज्यरूपी यज्ञ-चक्र चलाना चाहते हैं। निश्चय करते हैं कि राम को राज्य दे देंगे। इसी बीच लोभरूपी मन्थरा क्रियाशक्तिरूपी कैकेयी को आकर घेर लेती है, वशीभूत कर लेती है। जहाँ क्रिया है, वहीं लोभ भी है। मन्थरा कैकेयी की दासी है। दासी होना कोई बुरी बात नहीं। आप क्रिया कीजिए; अगर क्रिया में लोभ नहीं है तो कोई बुराई नहीं। क्रिया के पीछे अगर लोभ चले तो कोई हानि नहीं, पर ध्यान रखिए कहीं लोभ के पीछे क्रिया न चलने पाये; अन्यथा अनर्थ हो जायगा। जब तक मन्थरा कैकेयी के पीछे थी, तब तक कोई हानि न थी, किन्तु जब कैकेयी मन्थरा की बात मानकर उसके अनुसार चलने लगती है, तभी सारा उत्पात खड़ा होता है। लोभ क्रियाशक्ति को ध्वस्त कर देता है। यज्ञ-चक्र उलट जाता है और

कैकेयी दो वरदान माँग लेती है।

एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि कैकेयी ने दो वरदान क्यों माँगे? मैंने कहा कि हम सब भी तो दो वरदान माँगते हैं। संसार में जितने लोभी हैं, सभी दो वरदान चाहते हैं, कोई एक नहीं चाहता। किसी भी लोभी, संसारी व्यक्ति से पूछिए--क्यों भई! त्याग करना अच्छा है अथवा व्यापार करके धन कमाना अच्छा है? वह कहेगा--महाराज! दोनों अच्छे हैं।

--कैसे?

--त्याग करना अच्छा है यदि दूसरे का लड़का करे, और भोग अच्छा है यदि हमारे लड़के को मिले। हमारे लिए दोनों सिद्धान्त अच्छे हैं।

कैकेयी ने कहा--मेरे पुत्र को राज्य मिले।

--और दूसरे के पुत्र को?

--वह वन में जाकर तपस्या करे।

यही लोभी की, संसारी व्यक्ति की दृष्टि है। वह हमेशा दो वरदान चाहता है।

एक सज्जन ने एक महात्मा से कहा--महाराज! पहले बड़े बड़े महात्मा हुआ करते थे, पर आजकल अच्छे महात्मा देखने में नहीं आते। महात्माजी ने हँसकर कहा--भाई! बात यह है कि पहले जो महात्मा होते थे, वे बड़े बड़े लोगों के घरों से आते थे। त्याग-तपस्या लेकर आते थे और उनके मन में कोई लोभ नहीं होता था, इसलिए वे अच्छे होते थे।

पर आजकल तो सेठजी, आप लोगों ने अपने घरों से महात्मा निकालना बन्द कर दिया, तो हम-जैसे नालायक ही महात्मा बन गये! आप लोग अपने घरों से महात्मा पैदा कीजिए तो फिर से बड़े बड़े महात्मा मिलने लगेंगे !

लोग चाहते हैं कि महात्मा पैदा हों, शंकराचार्य और विवेकानन्द जैसे त्यागी जन्म लें, पर अपने घर में नहीं, दूसरों के घर में। यही लोभ की वृत्ति है। कैकेयी की बात सुन महाराज दशरथ ने कहा कि राम को सब लोग बड़ा साधु मानते हैं। इस पर कैकेयी ने व्यंग्य किया कि मैं भी तो उसे साधु कहती हूँ और इसीलिए उसे वन भेजना चाहती हूँ। साधु को तो वन में ही रहना चाहिए। वही उसका उपयुक्त स्थान है। बस, यज्ञ-चक्र की गति रुक जाती है। स्वार्थ का बोलबाला हो जाता है और तब इसी बीच महात्मा भरत का दिव्य चरित्र उपस्थित होता है, जिनके दिव्य यज्ञ से समाज की सारी वासना, सारी बुराई भस्म हो जाती है। महाराज दशरथ रामराज्य नहीं बना पाते, क्योंकि लोभ की वृत्ति आकर मार्ग अवरुद्ध कर देती है। तब श्रीभरत आकर रामराज्य का निर्माण करते हैं। उनका चरित्र सर्वश्रेष्ठ यज्ञ का प्रतीक है। भगवान् राम यदि समस्त यज्ञों की रक्षा करते हैं, तो भगवान् राम की रक्षा भरत-चरित्ररूपी यज्ञ करता है।

कैकेयी अम्बा ने श्रीराम से कहा कि उदासी के वेश में वन को जाना। उनकी आज्ञा मान उन्होंने

सुन्दर पीताम्बर उतार दिया, आभूषण त्याग दिये, मुकुट उतार दिया। सारे गहने और वस्त्र त्याग दिये, पर धनुष और बाण का परित्याग नहीं किया। यह कैसी बात है ? धनुष-बाण तो हिंसा का मुख्य शस्त्र है। यह कैसा वेश ? आधा तपस्वी और आधा राजा का ? पर इसमें आश्चर्य की बात नहीं। हम सबका भी ऐसा ही वेश होता है, आधा उदासीन और आधा शस्त्रधारी का। पर हमारा कार्य भगवान् के कार्य से ठीक उल्टा होता है। भगवान् ने कहा--माँ ! मैं अपने स्वार्थ के लिए उदासी हूँ। मैं अपने लिए राज्य पाने हेतु लड़ाई नहीं लड़ूँगा। राज्य तो भरत को मिलेगा। पर मैं समाज के स्वार्थ के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। यदि समाज पर संकट आयेगा, अत्याचार होगा, तो मैं धनुष-बाण उठाकर युद्ध करूँगा, संहार करूँगा। पर हम ? हम इसे उलट देते हैं। हम अपने स्वार्थ के लिए धनुर्धारी हो जाते हैं और समाज के स्वार्थ के प्रति उदासीन। यदि अपना स्वार्थ आये, तो शस्त्र उठा लेंगे और अगर लोक-कल्याण की बात हो, तो चुप्पी साध लेंगे। यही अन्तर है हममें और भगवान् राम में।

तो, भगवान् राम वन को चले जाते हैं और तब भरतजी-जैसे महान् सन्त चौदह वर्षों तक अपने दिव्य चरित्र के द्वारा ऐसा यज्ञ प्रज्वलित करते हैं कि उसकी अग्नि में अयोध्या का सारा कलुष, सारी वासना दग्ध हो जाती है, समस्त बुराइयों का नाश हो जाता है।

और तब भगवान् श्रीराघवेन्द्र का राज्य अयोध्या में स्थापित होता है। भगवान् राम चौदह वर्षों तक बाह्य शत्रुओं का नाश करते हैं और आन्तरिक शत्रुओं का विनाश श्रीभरतजी करते हैं। इस प्रकार जब बाह्य और आन्तरिक शत्रु विनष्ट हो जाते हैं, तब रामराज्य बनता है। रामराज्य केवल बाहर से नहीं बनता, बाहर और भीतर दोनों से बनता है। जब तक अयोध्या में मन्थरा है और लंका में शूर्पणखा है, तब तक रामराज्य नहीं आ सकता। मन्थरा है लोभवादी विचारधारा और शूर्पणखा है भोगवादी विचारधारा। जब तक समाज में लोभ और वासना का साम्राज्य है, तब तक रामराज्य नहीं बनेगा। रामराज्य तब बनेगा, जब हममें यज्ञ-कर्म का उदय होगा तथा भरत-चरित्र के रूप में परम त्याग प्रकट होगा। जब अयोध्या में यह भरतरूपी दिव्य आत्मत्याग उपस्थित होता है, तो भगवान् राम उनसे मिलने के लिए व्यग्र होकर आते हैं।

भगवान् राम वन से लौट आये। गुरु वसिष्ठ कहते हैं कि राघवेन्द्र को स्नान करा दो। सेवक उन्हें स्नान कराने के लिए प्रस्तुत होते हैं। इसी बीच भगवान् कहते हैं--गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य है, मैं स्नान करूँगा, पर--

प्रथम सखन्ह अन्हवावहु जाई।

--पहले मेरे मित्रों को स्नान करवाओ। उनके मित्र कौन? बन्दर! अर्थात् रामराज्य में श्रीगणेश कहाँ से हुआ? श्रीगणेश राजा से नहीं हुआ, सबसे नीचे के

व्यक्ति से हुआ, बन्दरों से हुआ। रामराज्य का तात्पर्य ही यह है कि सुख सबसे नीचेवाले से प्रारम्भ हो और अन्त में सबसे ऊपरवाले के पास पहुँचे। यह नहीं कि सुख का प्रारम्भ ऊपर से हो और वह नीचे तक पहुँच ही न पाये, सारा का सारा ऊपर ही रह जाय! जब भी रामराज्य प्रारम्भ होगा, तो वह वन स होगा, बन्दरों से होगा। नगर से रामराज्य का उदय नहीं होगा। महाराज दशरथ अयोध्या में रामराज्य बनाना चाहते थे, और इसीलिए नहीं बना पाये। भगवान् ने कहा कि रामराज्य पहले वन में बनेगा, बन्दरों में बनेगा और सबसे बाद में अयोध्या के लोग रामराज्य के नागरिक बनेंगे। रामराज्य का प्रथम नागरिक हुआ केवट और अन्तिम नागरिक हुए अयोध्या के लोग। भगवान् के राज्य की परम्परा ही यही बनी। अतः बन्दरों को प्रथम स्नान कराया गया।

अब भाइयों ने सोचा कि प्रभु को स्नान करा दें। वे उनके पास आये। भगवान् राम ने तीनों की ओर देखा और मुसकराये; बोले--भरत! अब हम भाई मात्र नहीं रह गये; याद रखो, अब हम राजा हैं। भरतजी ने कहा--महाराज! हमारें लिए तो आप सदा से ही राजा हैं। प्रभु बोले--नहीं, पहले भाई के रूप में तुम्हारी बात चल सकती थी, किन्तु अब हम राजा हो गये हैं; हम जैसा चाहेंगे, वैसा ही होगा। भरतजी ने कहा--आप आज्ञा दीजिए। तब प्रभु ने भरतजी से अपने स्नान के लिए रखे आसन की ओर इशारा करते हुए

कहा---इस पर बैठ जाओ, यही हमारी आज्ञा है। अब भरतजी कर क्या सकते थे? आज्ञा तो पालनी ही थी। वे उस आसन पर बैठ गये। और प्रभु ने क्या किया ?--

निज कर राम जटा निरुआरे।

--वे अपने करकमलों से भरतजी की जटाओं को खोलकर सुलझाने लगे।

यही रामराज्य का रूप है। राजा स्वयं सत्ता का प्रेमी नहीं, सेवा का प्रेमी है। प्रभु सोचते हैं कि रामराज्य तो भरत ने बनाया है, अतः पहले उसकी सेवा कर लें। वे उनके बाल सुलझाते हैं और इधर भरतजी की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है। प्रभु यह देख उनसे पूछते हैं--भरत ! तुम्हें बड़ा संकोच हो रहा है क्या ? भरत कहते हैं--नहीं महाराज ! मैं तो बड़ा प्रसन्न हो गया। पहले-पहल जब आप मेरी जटाओं को सुलझाने लगे थे तो संकोच अवश्य हुआ था, पर फिर स्मरण हो आया कि इन जटाओं की उलझन तो मेरी ही बनायी हुई है और आप इसे सुलझाकर यह सिद्ध कर दे रहे हैं कि उलझाना जीव का कार्य है और सुलझाना आपका! आप तो अपने चरित्र की ही मर्यादा का पालन कर रहे हैं। इसलिए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। और प्रभु तीनों भाइयों को इसी प्रकार नहलाते हैं। गोस्वामीजी ने लिखा--

अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई।
भगत बछल कृपाल रघुराई॥

अब उनको स्नान कौन कराये ! प्रभु बोले--देखो,

मैं राजा हो गया हूँ। मेरी आज्ञा सबको माननी होगी। पहले तुम लोग मुझे स्नान करा सकते थे। तुम मेरे भाई थे। पर अब मैं राजा हूँ। मेरी सेवा कोई दूसरा नहीं कर सकता। कैसी उल्टी बात करते हैं भगवान्! उन्हें स्नान फिर किसने करवाया? गोस्वामीजी लिखते हैं--

पुनि निज जटा राम बिबराए।
गुर अनुसासन मागि नहाए॥
करि मज्जन प्रभु भूषन साजे।

--गुरु से आज्ञा ले प्रभु ने स्वयं अपनी जटा सुलझायी, स्नान किया और वस्त्राभूषण धारण किये। प्रभु, जिनके हजारों सेवक थे, इतने उत्कृष्ट भाई विद्यमान थे, अपना सारा कार्य स्वयं ही करते हैं। उन्होंने बाद में कहा कि यदि प्रजा मुझे इस रूप में देखने को तैयार हो, तभी मैं राज्य स्वीकार करूँगा, अन्यथा नहीं। उन्होंने अयोध्या के नागरिकों को बुलवाया और कहा कि मैं राजा हूँ और प्रजा को चाहिए कि वह अनुशासन का पालन करे--

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई।
मम अनुसासन मानै जोई॥

--मुझे वे ही प्रिय हैं, जो मेरे अनुशासन का पालन करें।

अयोध्या के नागरिकों ने कहा--प्रभो! यह तो हमारा परम सौभाग्य है कि हमें आपके अनुशासन के पालन का अवसर मिलेगा। आप आज्ञा दीजिए। भगवान् का अनुशासन क्या था? हम सब भी तो अनुशासन का पालन कराना चाहते हैं, पर इसका अर्थ यह होता है कि

दूसरे निरन्तर हमारी आज्ञा का पालन करें। पर प्रभु का अनुशासन ऐसा नहीं। वे कहते हैं——मेरी एक ही आज्ञा है। सब ध्यान देकर सुनो——

जौं अनीति कछु भाषौं भाई।
तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

——मेरा अनुशासन यही है कि यदि मुझसे नीति के विरुद्ध कोई कार्य हो, तो आप लोग बिना किसी भय के मुझे रोक दें। किसी प्रकार का संकोच न करें। मेरी आलोचना करें। प्रजा चरणों को पकड़ लेती है, कहती है——

असि सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ।

——प्रभो! ऐसी शिक्षा आपके सिवा और दूसरा कौन दे सकता है? यह था प्रभु का अनुशासन!

जब प्रभु स्नान कर वस्त्राभूषण धारण कर लेते हैं, तो वसिष्ठजी की दृष्टि प्रभु की ओर जाती है। और गोस्वामी-जी यहाँ पर एक ही वाक्य में अपना दर्शन रख देते हैं——

प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा।
तुरत दिब्य सिंघासन मागा॥

——वसिष्ठजी ने अनुराग-भरी दृष्टि से प्रभु की ओर देखा और सेवकों को तुरन्त आज्ञा दी कि जाओ, सिंहासन को उठाकर ले आओ। सब लोग तो देख रहे थे कि भगवान् अब वस्त्राभूषण धारण कर सिंहासन की ओर जायेंगे, पर वसिष्ठजी ने सब कुछ बदल दिया। उन्होंने सिंहासन को वहीं मँगवा लिया। इसका तात्पर्य क्या था? यही कि संसार में अधिकांश लोग होते तो हैं छोटे, पर सिंहासन में

बैठकर अपने को बड़ा समझने लगते हैं। अगर पद मिल जाय, तो बड़े हो जाते हैं और यदि पद छिन जाय तो छोटे हो जाते हैं। गुरु वसिष्ठ का भाव यह था कि हमारे राघवेन्द्र को सिंहासन की कोई आवश्यकता नहीं। ये सिंहासन में बैठकर बड़े नहीं होंगे। ये सदा से ही बड़े हैं। यदि सिंहासन अपने को धन्य बनाना चाहता है, तो वह स्वयं होकर इनके पास आये। ये उसके पास नहीं जायेंगे ! अस्तु, सिंहासन बुलवाया गया और जब प्रभु उस पर विराजे, तो लोग उन्हें घेरकर खड़े हो गये। भगवान् ने मुसकराकर कहा---भरत ! तुम छत्र लेकर खड़े हो जाओ। लक्ष्मण ! तुम धनुष-बाण ले लो। हनुमान ! तुम व्यजन डुलाओ। शत्रुघ्न ! तुम चामर पकड़ो। सब लोग यथा आज्ञा खड़े हो गये। यही राम-राज्य का प्रतीक है। गोस्वामीजी लिखते हैं--

भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहें छत्र चामर ब्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते।।

प्रभु ने भरतजी को छत्र लेकर खड़े होने को क्यों कहा ? प्रभु ने सोचा कि रामराज्य बनानेवाले तो भरत हैं, अतः उचित तो यह है कि मैं भरत से कहूँ, जरा मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दो कि यह राज्य ठीक चले। पर भरत तो मेरे कहने से कभी मेरे सिर पर हाथ रखेंगे नहीं। बड़े निरहंकारी हैं न। इसलिए यदि वे छत्र उठा लें, तो इसी बहाने कम से कम उनका हाथ मेरे सिर पर बना रहेगा। इसीलिए प्रभु उन्हें छत्र उठाने

को कहते हैं। भरत ने भी प्रसन्न होकर छत्र उठा लिया। प्रभु ने कहा--भरत का छत्र मेरे ऊपर है; बस, मैं धन्य हो गया। और भरतजी भी बोल उठे--प्रभो! मैं भी धन्य हो गया। कैसे? आपका छत्र उठाने से यह लाभ है कि इस बहाने मैं भी आपकी छत्रछाया में आ गया! । आपका छत्र उठाना सबसे सुन्दर कार्य है। लोग कहेंगे, इन्होंने छत्र उठाया है, पर असल में मैं तो इसके नीचे हूँ। यही सबसे बड़ा लाभ है।

दूसरी ओर, लक्ष्मण के हाथ में धनुष-बाण है। तात्पर्य यह है कि रामराज्य में भरत का दिव्य प्रेम है, लक्ष्मण का शौर्य है, हनुमान की दिव्य सेवा है, प्रभु की अनुपम करुणा और उदारता है तथा जानकीजी के दिव्य आत्म-त्याग की वृत्ति है। इस प्रकार भगवान् श्रीराघवेन्द्र के अनुपम चरित्र के द्वारा, परम यज्ञ-कर्म के द्वारा ऐसे राम-राज्य की स्थापना होती है, जिसके बारे में कहा गया है--

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।
सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

--वहाँ कम उम्र में मृत्यु नहीं होती, किसी को कोई कष्ट नहीं होता, सभी का शरीर सुन्दर और निरोग है। न कोई दरिद्र है, न कोई दुखी; न कोई दीन है, न कोई मूर्ख और न ही कोई शुभ लक्षणों से रहित है।

ऐसे दिव्य सुख और शान्ति से भरे रामराज्य का उदय इसी प्रकार के यज्ञ-कर्म से हुआ करता है।

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की भारत को देन

मा. स. गोलवलकर

(राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक स्वर्गीय श्री 'गुरुजी' ने आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह का उद्घाटन करते हुए ११ जनवरी, १९६९ को जो व्याख्यान दिया था, प्रस्तुत लेख उसी का अनुलेखन है।—सं०)

भगवान् की बड़ी कृपा है कि मैं यहाँ आ सका हूँ। ऐसा अवसर बार बार नहीं मिला करता। अपना यह जो आश्रम है, उसका इतिहास हम सबने सुना ही है। श्रीमत् स्वामी आत्मानन्दजी से अनेकों वर्षों से निकट का परिचय होने का भाग्य मुझे प्राप्त है। अपने अन्तःकरण की भावना के अनुरूप यहाँ पर उपस्थित हुआ हूँ। यहाँ आये हुए बन्धुओं को मैंने देखा तो ऐसा लगा कि छोटे-बड़े सभी में यह श्रद्धा का भाव प्रवेश करता जा रहा है कि इस भारत की जो अपनी पुनीत परम्परा है, उसके अनुसार एक-एक व्यक्ति मानो आध्यात्मिक ज्ञान का मूर्तिमन्त स्वरूप बने। और मैंनें यही सोचा कि श्रीभगवान् रामकृष्ण की छबि हमारे सामने यही प्रेरणा और आशीर्वाद देती विद्यमान रहे।

उस समय का थोड़ासा इतिहास हम लोग स्मरण करें, जब श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ था। हमारे यहाँ तो ऐसा कहा ही है कि जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की वृद्धि होने लगती है, यानी

धर्म के ऊपर अधर्म हावी हो जाता है, तो धर्म के परित्राण के लिए भगवान् युग युग में प्रकट होते हैं--कभी अंशावतार के रूप में, तो कभी पूर्णावतार के रूप में। ऐसा एक समय हमारी इस पुनीत धर्मभूमि में, भरत-भूमि में लगभग १००-१५० वर्ष पूर्व उपस्थित हुआ। यह तो सब लोग जानते हैं कि दुर्भाग्य से १०००-१५०० वर्षों तक भारत पर परकीय आक्रमणों का ताँता चलता रहा। देश पर अनेक प्रकार के आघात हुए, अत्याचार हुए। कई लोग परकीय लोगों के सामने झुककर अपने धर्म को भी छोड़कर चले गये। पहले मुगल आये, मुसलमान जातियाँ आयीं, पठान आये और उसके बाद यूरोप के अनेक देशों के लोग आये। फिर बाद में अंग्रेज यहाँ आकर अपना आसन जमाकर बैठे और अपने राज्य को स्थिरता प्रदान करने के लिए उन्होंने यहाँ के लोगों को अपने धर्म में मिला लेने की योजना बनायो। उन्होंने विचार किया कि यदि भारतवासियों को हम अपने धर्म की दीक्षा दे दें, तो हम इच्छानुसार अपने अनुगामियों की संख्या बढ़ाकर अपनी प्रभुसत्ता यहाँ पर कायम रख सकेंगे; और ऐसा सोचकर उन्होंने बहुत बड़ी मात्रा में धर्म-परिवर्तन की योजना बनायी तथा ईसाई मिशनरियों के द्वारा स्थान-स्थान पर शिक्षालय और रुग्णालय खुलवाये। शिक्षालयों के द्वारा उन्होंने हम लोगों की शिक्षा-दीक्षा अपने हाथ में ले ली और रुग्णालयों के द्वारा

लोगों के उपचार की व्यवस्था करते हुए उन्होंने उन सबको धर्म-परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम बना लिया। अपने यहाँ जो पढ़े-लिखे लोग थे, जिनका समाज में साधारण रीति से बोलबाला हो सकता था जो समाज के अगुआ माने जा सकते थे, वे अंग्रेजों को मानो देवदूत मानकर अपने सम्पूर्ण जीवन को उन्हीं के ढाँचे में ढालने के लिए प्रस्तुत हो रहे थे--वेश में, भाषा में, बोली में, और यही नहीं, बल्कि उपासना में भी। ईसाई कहता है कि भगवान् है, परन्तु उसकी कोई मूर्ति नहीं है। वह मूर्ति-पूजा का निषेध करता है और विभिन्न देवी-देवताओं के सम्बन्ध में भी अपना विरोध प्रकट करता है।

उन दिनों बंगाल में ब्राह्मसमाज के नाम से और महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज के नाम से जो सम्प्रदाय चले, उनकी उपासना-पद्धति भी ईसाइयों के समान थी। जिन महापुरुषों ने इन सम्प्रदायों को शुरू किया था, वे कोई साधारण लोग नहीं थे। वे असामान्य योग्यता के पुरुष थे। महर्षि टैगोर और केशव सेन सामान्य कोटि के व्यक्ति नहीं थे। परन्तु उस समय चारों ओर जो अंग्रेजियत का वायुमण्डल था, उसका उन पर भी प्रभाव पड़ा था और उसी के अनुरूप उन्होंने ये संस्थाएँ प्रारम्भ कीं। हो सकता है उनमें यह आशा रही होगी कि भले ही जैसा ईसाई कहता है, वैसी ही अपनी भी उपासना-पद्धति है, किन्तु चूँकि अब अपने धर्म और उपनिषदों के सिद्धान्तों का विशेष आग्रहपूर्वक पठन-पाठन होगा, इसलिए

अपने यहाँ का पढ़ा-लिखा आदमी ईसाई नहीं बनेगा।

उन दिनों बहुत से लोग ईसाई बनने लगे थे। जैसे, बंगाली भाषा के एक कवि थे मधुसूदन दत्त। आपने उनका नाम सुना होगा, और आपमें से बहुत से उन्हें जानते भी होंगे। उनका 'मेघनाद-वध' काव्य बड़ा प्रसिद्ध है। वे ईसाई बने थे। यद्यपि उनका नाम मधुसूदन दत्त बदला नहीं था, तथापि उनके नाम के आगे 'माइकेल' लग गया था—'माइकेल मधुसूदन दत्त'। वे एक दिन भगवान् रामकृष्ण से मिलने आये। भगवान् ने पूछा, "तुम ईसाई क्यों बने?" उन्होंने कहा, "थोड़े से स्वार्थ के लिए बना हूँ।" भगवान् रामकृष्ण ने उनकी ओर अपनी पीठ फेर ली; कहा कि थोड़े से स्वार्थ के लिए जो अपना धर्म छोड़ता है, उसका मुँह देखना भी पाप है!

ऐसे अच्छे पढ़े-लिखे लोग भी अपना धर्म छोड़कर, सभी प्रकार के अपने संस्कारों को छोड़कर दूसरे धर्म की ओर जा रहे थे। ऐसा लगता था कि यह जो विधर्म का एक ज्वार-सा आ गया है, उसमें अपने यहाँ का परम्परागत सत्य, चिरन्तन सनातन धर्म डूब जायगा। सबकी ऐसी मानसिक स्थिति हो गयी थी कि जो कुछ परकीय है, वही अच्छा है; विदेशियों का वेश अच्छा, उनकी बोली अच्छी, उनका रहन-सहन अच्छा, उनका धर्म अच्छा, उनका सब कुछ अच्छा, और अपना कुछ भी अच्छा नहीं। हमारे अच्छे अच्छे लोग अपने ही धर्म का, अपनी ही संस्कृति का निषेध करने लगे थे। सर्वत्र ऐसी

स्थिति हो गयी थी कि लगता था धर्म नाम की कोई वस्तु बचेगी नहीं। शिक्षा-दीक्षा भी अंग्रेजों ने इस प्रकार की शुरू की थी कि उससे भले ही इस देश के मनुष्यों का रंग नहीं बदले, परन्तु वे 'ब्राउन इंग्लिशमैन' अवश्य बन जायँ! उनका तात्पर्य यह था कि यदि हमारा राज्य कभी यहाँ से नष्ट भी हो जाय, तो भी यहाँ जो रहेंगे, वे हमारी अंग्रेजियत में डूबे हुए 'ब्राउन इंग्लिशमैन' ही रहेंगे! पता नहीं उन्होंने कितनी दूर की सोची थी! आज हमें ऐसा अवश्य दिख रहा है कि हम लोग इंग्लिशमैन बनने का पर्याप्त यत्न कर रहे हैं, किन्तु उस प्रयत्न में कभी सफलता मिलने की आशा नहीं है, क्योंकि कितना भी प्रयत्न किया जाय, हममें से कोई अंग्रेज कैसे बन सकता है?

प्राथमिक शाला में मैंने मराठी में एक कविता पढ़ी थी--"बगुला और कौआ"। कौआ अपने मन में कहता है कि मैं काला हूँ, इसलिए लोग मुझसे घृणा करते हैं और यह बगुला सफेद होने के कारण सब लोगों की बड़ी तारीफ पाता है। तो अब क्या करना चाहिए? वह बाजार से साबुन ले आया और नदी किनारे बैठकर, साबुन लगाकर पत्थर के ऊपर अपना सारा शरीर रगड़ने लगा। रगड़ते-रगड़ते उसके पंख उखड़ गये और वह लहू-लुहान होकर मर गया। तो हममें से जो अंग्रेज बनने की चेष्टा कर रहे हैं, उनका भी उस कौए जैसा ही हाल होगा। भगवान् रामकृष्ण के युग में भी ठीक ऐसी ही भीषण स्थिति थी।

यह एक सर्वविदित सत्य है कि जब राष्ट्र-जीवन

में दासता आती है, तो जनसाधारण के परम्परागत सद्‌गुणों का ह्रास होने लगता है। यह दासता मनुष्य को अनेक प्रकार के दुर्गुणों में प्रवृत्त करती है। हम एक दूसरे के साथ विश्वासघात करते हैं, असत्य-भाषण करते हैं, असत्य आचरण करते हैं, किसी भी प्रकार का पाप-कर्म करने में हमें हिचक नहीं होती। तब ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। सर्वत्र चरित्र-भ्रष्टता का, शील-भ्रष्टता का यानी धर्म-भ्रष्टता का वायुमण्डल फैला हुआ था। सबके सामने यही एक प्रश्न था कि इस सबके पीछे जब ऐसे प्रबल साम्राज्य का समर्थन है, तो यह सब आखिर कैसे रुकेगा? ऐसा लगता नहीं था कि यह रुक सकेगा। परन्तु अनेकों के मन में ऐसी स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न हो रही थी कि यह रुकना चाहिए। यह जो ब्राह्मसमाज आदि का निर्माण हुआ, वह इसी इच्छा का एक प्रकट रूप था। इसी समय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हुए थे। उन्होंने जन-मानस के सामने एक बहुत अच्छा आदर्श उपस्थित किया था। उन्हें वाइसराय की कमेटी में लिया गया था, पर तो भी, अनेक मित्रों के आग्रह के बावजूद, उन्होंने अंग्रेजी वेश नहीं पहना। वे तो धोती, छोटी सी चादर और कुरता पहनकर ही मीटिंग में गये। इस प्रकार उन्होंने अपनी वेश-भूषा को फिर से प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी। ये सब घटनाएँ अपने आप में बड़ी अच्छी थीं, पर अधर्म का जो ज्वार-सा आया हुआ था, उससे अपने धर्म

को, अपनी संस्कृति और अपने समाज को सुरक्षित रखना सामान्य व्यक्ति का, सामान्य शक्ति का काम नहीं था।

इसके साथ ही हमें यह भी देखने को मिलता है कि इस बड़े देश में जब विदेशी शासक आये, तो उन्होंने यहाँ दिखनेवाले धर्म-भेद, जाति-भेद और वर्ग-भेद के संघर्षों का लाभ उठाकर अपना आसन पक्का करने की चेष्टा की। एक तो संघर्ष था मुसलमानों का--इस देश के पुत्ररूप हिन्दुओं के साथ, जो हजार वर्षों से चलता आ रहा था। अंग्रेजों के आने के पहले इस सघर्ष के कुछ-कुछ शान्त होने की सम्भावना दिखायी दे रही थी, और यदि अंग्रेज बीच में नहीं पड़ते, तो ऐसी भी सम्भावना थी कि यह मुसलमान-वर्ग हिन्दू समाज के अन्दर उसी प्रकार से पच जाता, जिस प्रकार शक, हूण आदि पच गये; भले ही उनकी थोड़ीसी विशेषता रह जाती या प्रार्थना-पद्धति रह जाती। हमारे यहाँ तो सभी प्रार्थना-पद्धतियों का सत्कार किया गया है। हमारे धर्म ने किसी का निषेध नहीं किया है। अगर कोई पाँच बार क्या, दस बार नमाज़ पढ़े, तो हम कहेंगे--बहुत अच्छा कर रहे हो भाई, ज़रा सच्चाई से रहो, नमाज पढ़ो, खुदा की इबादत करो और उनकी करुणा के लिए प्रार्थना करो। तो, इस प्रकार मुसलमानों का राष्ट्र के इस जीवन-प्रवाह में समरस होने का समय आ रहा था कि अंग्रेज आ गये। उन्होंने सोचा कि यह समरसता हमारे लिए खतरनाक है, इसलिए हम लोगों को चाहिए कि इनके जो हजार वर्षों से झगड़े चले आ रहे हैं उनको

जरा बढ़ा दें। अलीगढ़ यूनिवर्सिटी और मुस्लिम लीग की स्थापना उनकी इसी दुरभिसन्धि का फल है।

फिर उनको यह भी पता था कि यहाँ के अभी अभी बने ईसाई कभी भी अपने देशभाइयों के साथ मिल जा सकते हैं। अतः उन्होंने इन ईसाइयों को भी राष्ट्र की जीवनधारा से पृथक् रखने का भरपूर प्रयत्न किया।

इसके साथ ही उन्होंने देखा कि इस देश में अनेक जातियाँ हैं, अनेक सम्प्रदाय हैं। इसमें नगरवासी हैं तो ग्रामवासी भी हैं, वनवासी भी हैं तो गिरि-कन्दराओं में रहनेवाले भी हैं। भले ही इनके रहन-सहन में सूक्ष्म फर्क दिखायी देता है, पर हृदय के संस्कार की दृष्टि से इन सबमें एकता है। अंग्रेजों ने विचार किया कि ऊपर से दिखनेवाले भेदों को अधिक तीव्र बनाकर इस समाज को एक होने से रोक दें, तभी हमारा आसन यहाँ पर हमेशा के लिए पक्का हो सकता है; और ऐसा सोचकर उन्होंने विच्छेद को अधिक से अधिक मात्रा में बढ़ाने का प्रयत्न किया।

धर्म वह है, जो समाज को सुव्यवस्था में पकड़कर रखता है-- 'धारणात् धर्मः', और जहाँ पर उपर्युक्त प्रकार से विच्छेद का कार्य होता है, वह अधर्म है। उस समय ऐसा अधर्म चारों ओर से बढ़ रहा था। इसको रोकने की शक्ति किसी में नहीं दिखती थी। तब लोगों के अन्तःकरण में ऐसा भाव उठने लगा कि अब एक असामान्य ईश्वरीय शक्ति का प्रकट होना आवश्यक है।

और जब ऐसा भाव लोगों के मन में स्वत:प्रवृत्त होकर उठता है और तीव्र होता है, तो अपार करुणामय भगवान् आवश्यकतानुसार अपने को अंशावतार के रूप में, या अपनी पूर्ण सामर्थ्य के साथ प्रकट करते हैं। इस समय तो धर्म की रक्षा के लिए यानी समाज की धारणा के लिए, देश में परकीयों द्वारा जो विच्छेदरूपी अधर्म फैलाया गया था उसको दूर करने के लिए, देश में अलग अलग दिखनेवाले सब धर्मों और पन्थों में समन्वय करने के लिए एक ऐसी महान् विभूति का आविर्भाव जरूरी था, जो अपने जीवन में सभी धर्मों की साक्षात् अनुभूति करके उनका सत्यत्व सारे जगत् के समक्ष प्रस्थापित करे। और ऐसी विभूति हमें श्रीरामकृष्ण परमहंस के रूप में प्राप्त हुई। उस समय लोग ऐसा मानते थे कि अंग्रेजी शिक्षा में ही बड़प्पन है, किन्तु श्रीरामकृष्ण ने न तो अंग्रेजी शिक्षा पायी थी, न ही उनका लौकिक शिक्षा के साथ कोई विशेष सम्पर्क था। पर आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे व्यक्ति ने दिन-प्रतिदिन के अनुभव में आनेवाली सामान्य बातों से चरम सिद्धान्त सबके सामने रखने की असामान्यता प्रकट की और हमारे यहाँ की ऋषियों और महापुरुषों, मुनियों और तपस्वियों की परम्परा को सिद्ध करके दिखा दिया कि सत्य का ज्ञान ग्रन्थ के वाचन पर निर्भर नहीं करता, वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति से सधता है, और इसे कोई भी प्राप्त कर सकता है।

तो, श्रीरामकृष्ण ने यह विश्वास प्रत्येक मे जगाया

कि यह जो आधुनिक शिक्षा का आडम्बर है, उसे तोड़कर अन्तःकरण की सत्प्रवृत्तियों और सद्ज्ञान को प्रकट करना सम्भव है। सभी धर्मों का समन्वय करके केवल भारत के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण जगत् के मानवों की एकात्मकता प्रस्थापित करने को यह महान् अवतार हुआ। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें 'सर्वधर्म-स्वरूप' कहकर पुकारा और उनकी वन्दना की। अभी उनकी पूरी शक्ति जगत् में प्रकट नहीं हुई है। वह तो धीरे धीरे ही प्रकट होगी और यदि हमारा सौभाग्य होगा, तो हम भी उसे देखने में समर्थ होंगे।

आज ससार ने विज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रगति की है। लोग चन्द्रमा की परिक्रमा करके लौटे हैं। रूस के लोग कहते हैं कि अमेरिका यदि चन्द्रलोक गया, तो हम शुक्रग्रह पर जायेंगे और वहाँ पर आदमी उतारेंगे। यह अलग बात है कि आदमी वहाँ बचे या न बचे! परन्तु आज का मानव इस प्रकार का बड़ा साहस प्रकट कर रहा है। हमारे शास्त्रों में आसुरी सम्पत्ति का वर्णन करते समय कहा गया है कि उसमें इस प्रकार का साहस रहता है कि आकाश को भी बगल में ले लूँ। तो प्रश्न उठता है कि क्या इससे मनुष्य का जीवन किसी प्रकार सुखकर हो रहा है? दिखता तो यह है कि भीषण शस्त्रास्त्रों के कारण मनुष्य मात्र के भेद इतने उग्र हो गये हैं कि सम्पूर्ण मानवता के नष्ट होने की सम्भावना खड़ी हो गयी है। लोगों को भय है कि कहीं लड़ाई की

चिनगारी पड़ जाय, तो वह चिनगारी फैलकर सारे विश्व के लोगों का अन्तःकरण झकझोर डालेगी और ये भयंकर शस्त्रास्त्र शस्त्रागारों से बाहर निकलकर सारे विश्व को जलाकर राख कर देंगे। तब चिराग जलाने के लिए भी कहीं कोई मनुष्य जीवित नहीं रहेगा। इस भय से सब लोग ग्रस्त हैं। मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न हो गये हैं और हमारा दुर्भाग्य ऐसा है कि इन भेदों में लोग धर्म को भी घसीटकर ले आये हैं। कहाँ धर्म सबको एकत्र करनेवाला, सबको श्रेष्ठ बनानेवाला सूत्र है, जिसका कार्य ही यह है कि सभी प्रवृत्तियों का समन्वय करके मनुष्य को एक अत्यन्त उत्कृष्ट विकसित अवस्था प्राप्त करा देना, और कहाँ लोग धर्म का नाम लेकर उसकी आड़ में मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदों को उग्र, उग्रतर और उग्रतम बनाते जा रहे हैं! यह विभीषिका आज जगत् के सामने खड़ी है। इसमें से रास्ता कौनसा है? इससे हम किस प्रकार मुक्त होंगे? --यह सभी के मन की व्यथा है।

व्यावहारिक दृष्टि से जब हम विचार करते हैं, तो देखते हैं कि हमें आज के इस आपाधापी और धकाधकी के युग में अपने को इस प्रकार शक्तिसम्पन्न करके खड़ा करना होगा, ताकि किसी आघात से हम डिग न जायँ। परन्तु मात्र इतने से काम पूरा नहीं होगा। इस प्रकार की सामर्थ्य के साथ साथ धर्म का जागरण भी आवश्यक है--ऐसे धर्म का जागरण, जो सत्यस्वरूप है, जो सबको एक सूत्र में पिरोता है, जो अलगाव या

विच्छेद को जन्म नहीं देता, जो सम्प्रदाय के तंग दायरे मे लोगों को नहीं बाँधता, बल्कि विभिन्न मतों में समन्वय स्थापित करता है। इसी प्रकार के सर्वसमन्वयात्मक धर्म को अपने जीवन में उतारकर सबको उसका प्रत्यक्ष कराने के लिए युगावतार के रूप में भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस हमारे सामने आविर्भूत हुए। जैसा मैंने अभी कहा, वे कोई आधुनिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति नहीं थे। उनके पास जानेवालों में कितने ही लोग ऐसे भी थे, जो उन्हें पागल कहते थे। भगवान् रामकृष्ण ऐसे लोगों से मिलने पर कहा करते--क्यों भाई, चौबीसों घण्टे नून-तेल, दाल-रोटी आदि की चिन्ता करते करते तुम्हारा दिमाग ठिकाने रहा और सारे चैतन्य के मूल आधार भगवान् का चिन्तन करने के कारण मैं ही पागल हो गया!

तो, अब प्रश्न यह था कि उनका यह सन्देश त्रस्त और संकटग्रस्त लोगों तक कैसे पहुँचे? बात यह है कि भगवान् जब भी आते हैं, तो अकेले नहीं आते; अपने साथ काम करनेवालों को लेकर आते हैं। रामायण में वर्णन आता है कि जब प्रभु रामचन्द्र का आविर्भाव होनेवाला था, तो ब्रह्माजी देवताओं से कहते हैं कि तुम लोग भी भिन्न भिन्न रूप धारण करके अवतार लो और उनकी सेवा के लिए उपस्थित हो जाओ। प्रत्येक अवतार के साथ यही बात हुई है। तो इस समय भी भगवान् अपने पीछे पीछे ऐसे लोगों को ले आते हैं, जो उनके सन्देश का प्रचार करें और अपने ज्ञान से लोगों को प्रभावित करें। और इस

प्रकार उन्होंने धर्म के समन्वयात्मक और एकात्म-बोध रूपी परम श्रेष्ठ ज्ञान को सर्वत्र प्रसारित करने की व्यवस्था कर दी। भगवान् श्रीरामकृष्ण कहते थे कि प्राचीन काल से जो ऋषि नर-नारायण के रूप में बदरिकाश्रम में सम्पूर्ण जगत् की भलाई के लिए तपश्चर्या करते बैठे हुए हैं, वे समय समय पर देह धारण कर प्रकट होते हैं। उन्होंने कहा कि वही 'नर' ऋषि इस समय नरेन्द्र के नाम से प्रकट हुए हैं। यह नरेन्द्र धर्म की ध्वजा लेकर विश्व में सर्वत्र जायगा, सभी ओर मानवों को जागृत करता हुआ जायगा, ज्ञान को सर्वत्र प्रस्थापित करता हुआ जायगा और सब प्रकार के अन्धकार को निरस्त करता हुआ जायगा। सर्वत्र इसकी विजय होगी। यही नरेन्द्र आगे चलकर श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द हुए। ये भगवान् रामकृष्ण के प्रमुख पार्षद् बने। आज उन्हीं की जयन्ती के उत्सव पर हम लोग यहाँ पर उपस्थित हुए हैं। मुझे इस बात का बड़ा सुख है कि मैं अपना प्रणाम निवेदित करने के लिए यहाँ पर उपस्थित हो सका। मैं उनके ज्ञान की कोई बड़ी बात नहीं बोलूँगा। एक व्यावहारिक मनुष्य के नाते हम सब लोगों के काम में आनेवाली दो-चार बातें आपके सामने रखकर मैं अपना कथन पूर्ण करूँगा।

हम व्यवहार में रहनेवाले लोग हैं। हमें अपना घर-बार चलाते हुए, परिवार चलाते हुए इस जीवन-संघर्ष में खड़े रहना है। तब विचार करें कि इसके लिए

आवश्यकता किस बात की है ? अपने जीवन में हमें सर्व-प्रथम जिस बात का बोध होता है, वह है अपना शरीर। हमारे यह कहा भी गया है कि सब प्रकार के धर्मों को सिद्ध करने के लिए प्रथम साधन है अपना शरीर--"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" । तो पहली आवश्यकता है शरीर को शुद्ध रखना, शक्तिसम्पन्न रखना, कार्यक्षम रखना, जिससे इसमें नित्य उत्साह बना रहे । प्रश्न हो सकता है कि यह तो अपने शरीर को सब प्रकार से श्रेष्ठ बनाकर रखने की आवश्यकता की बात हुई, इसमें भला स्वामी विवेकानन्द महाराज कहाँ से आये ? परन्तु उनके जीवन की बात यदि हमें कुछ पता हो, तो ज्ञात होगा कि उन्होंने तब भिन्न भिन्न प्रकार के व्यायाम किये थे, वे उत्तम मल्ल थे, अत्यन्त बलवान शरीर के थे । वे नियमित रूप से अखाड़ा जाते थे और अभ्यास करते थे। अभी स्वामी आत्मानन्दजी ने यहाँ विवेकानन्द आश्रम में अखाड़ा बनाने की योजना बतायी, तो मुझे अतीव सुख हुआ । आप लोग कहेंगे कि अच्छा सुख करनेवाला आदमी है, खुद तो दुबला-पतला, हड्डी-चमड़ावाला आदमी है । ठीक है कि मैं हड्डी-चमड़ावाला सींकिया पहलवान हूँ, परन्तु सब लोगों की भलाई जिसमें हो, वह बात तो बोल ही सकता हूँ। इतना तो आप मानेंगे ही। फिर ईश्वर की कृपा से इस हड्डी में पर्याप्त शक्ति है--है, क्या करें ! इसके लिए तो कोई चारा नहीं । अपने स्वयं के

बारे में बोलने के लिए तो खड़ा नहीं हूँ, नहीं तो अपनी भी बहुतसी स्मृतियाँ बता देता !

तो, स्वामी विवेकानन्द बड़े बलवान पुरुष थे। उन्होंने वस्तुतः जो इतना कठोर परिश्रम किया, इतनी प्रखर तपस्या की, खाना-पीना नींद-विश्राम आदि किसी की चिन्ता न करते हुए उन्होंने सारे जगत् भर में घूमकर जो इतना काम किया, वह सब सम्भव न हो पाता, यदि उन्होंने पूर्व जीवन में अपने शरीर में बल भरकर न रखा होता। उन्होंने अपनी देह में इतनी चेतना, इतनी शक्ति संचित कर रखी थी ! तभी तो भौतिकता के गर्त में गिरनेवाले विश्व भर के मानवों को अपनी प्रबल बाहुओं से ऊपर उठाने का प्रयत्न उनके द्वारा सम्भव हुआ था।

हमें सोचकर दुःख होता है कि आजकल यह शरीर-बल वाली बात हमारे जीवन से दूर हो गयी है। आज बलवान शरीर कोई नहीं चाहता, सब लोग अपने को सुन्दर दिखाने की चेष्टा करते हैं। पर ऐसा तो सृष्टि के प्रारम्भ से चलता आ रहा है, अतः इसमें कोई अटपटी बात भी नहीं। परन्तु सोचना यह है कि सौन्दर्य किसमें है। क्या अपने बाल टेढ़े-मेढ़े करने में ही सौन्दर्य है, अथवा शरीर से सटा हुआ पतलून पहनने में सौन्दर्य है ? पुरुष का वास्तविक सौन्दर्य तो इसमें है कि उसका स्कन्ध विशाल हो, छाती सिंह के समान भरी हो, गर्दन वृषभ के समान तनी हो

और एक बार किसी से हाथ मिला लिया तो जन्म भर वह उसकी पकड़ याद रखे ऐसी पंजे में शक्ति हो। आज लोग इस बात को भूल गये हैं। उन्हें फिर से सीख देनी होगी कि हृष्ट-पुष्ट बनो, बलवान बनो, शक्तिसम्पन्न बनो, चेतनामय बनो और इस बल का उपयोग सबकी भलाई के लिए, सबके संरक्षण के लिए करो, अपने स्वार्थ के लिए नहीं। इतने बड़े साधु और तपस्वी होकर भी स्वामी विवेकानन्द ने हमारे सामने इस प्रकार के बलवान शरीर का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, उससे हम लोग उपर्युक्त शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं ऐसा मैं समझता हूँ।

हम कई बार यह भी देखते हैं कि शरीर में बल हो तो मनुष्य उद्दण्ड होकर कभी कभी शीलभ्रष्ट हो जाता है। तो हमें इस महापुरुष से इस बात का बोध होता है कि शरीर कितना भी हृष्ट-पुष्ट क्यों न हो, अनेक प्रकार के ग्रन्थ आदि पढ़कर हमें कितनी भी विद्वत्ता क्यों न प्राप्त हो, परन्तु यदि हमने अपने जीवन को नितान्त पवित्र नहीं रखा, तो हम मनुष्य कहलाने लायक नहीं रह जायेंगे। स्वामीजी का जीवन परम पवित्र था। एक बार दूध से धोयी हुई वस्तु अपवित्र कहलायी जा सकती है, परन्तु स्वामीजी के जीवन में काया-वाचा-मनसा पावित्र्य के सिवाय और कुछ न मिलेगा।

अब हम लोग विचार करें कि चारों ओर मोह से भरे, क्षुद्र वैषयिक भावों से भरे इस संसार में हम जो जीवन में पावित्र्य लाने का, शारीरिक बल हासिल करने

का, ज्ञान आदि के सम्पादन का प्रयत्न करते हैं, आखिर उसका उद्देश्य क्या है ?

भारत की परम्परा में हमें हमेशा यह बताया गया है कि मनुष्य को भगवान् की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। हमारा हर कर्म मानो उसी की उपासना हो, उसी की भक्ति हो, उसी के लिए की गयी तपस्या हो। हम जो भी कर्म करें, वह इस प्रकार करें कि उसकी प्राप्ति में बाधा न हो। जो इस बात का प्रचार सर्वत्र करते हैं उन्हें उदार कहा गया है। जो धन का दान करते हैं, वे तो उदार कहलाते ही हैं, परन्तु जो इस ज्ञान का प्रचार सर्वत्र करते हैं, उन्हें भी उदार कहा गया है। स्वामीजी हमें सीख देते हैं कि अन्तःकरण में ऐसी भक्ति ले आओ, जीवन के कर्मों के प्रति उपासना का भाव ले आओ और उस परम सत्य की अनुभूति प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बना लो।

एक और महत्त्व की बात स्वामीजी ने हमारे सामने रखी। भारत में हमेशा से ऐसे लोग रहे हैं, जो सीख देते हैं कि भगवान् की उपासना करो। ये सीख देनेवाले लोग या तो अपने-अपने घरों में रहते हैं, या अपना एक छोटा आश्रम बना लेते हैं और कुछ चेले-चाँटी लेकर वहाँ बैठ जाते हैं। वहाँ वे भजन-पूजन करेंगे या योग वगैरह की कोई साधना करते रहेंगे, पर वे यह देखने को तैयार न होंगे कि यह जो अपने चारों ओर इतना बड़ा मनुष्य-समुदाय है, अपना समाज है, वह अत्यन्त दीन-हीन

अवस्था में पड़ा है, लोगों के खाने के लिए रोटी का टुकड़ा नहीं, शरीर को ढाँकने के लिए कपड़े का चिथड़ा नहीं, फिर ज्ञान आदि की बात तो दूर ही समझें ! ऐसी भयंकर हालत में सम्पूर्ण समाज पड़ा हुआ है, पर कोई उधर देखने के लिए तैयार नहीं हैं। उन लोगों से अगर कुछ कहो, तो वे यह कहने के लिए खड़े हो जायेंगे कि मनुष्य तो अपने कर्मों का फल भोगता है ! अरें भाई ! पर हमारा भी तो कोई कर्तव्य है कि नहीं ? ठीक है कि वे अपने कर्मों का फल भोगते हैं, परन्तु उनके प्रति अपना भी कोई कर्तव्य है ऐसा बोध हमारे भीतर उठना चाहिए कि नहीं ? हो सकता है कि कोई अपने पूर्व जन्म के कर्मों के कारण दरिद्र के रूप में उत्पन्न हुआ, पर यह तो हमारा धर्म नहीं कि इसीलिए उसे दरिद्र ही रखना चाहिए। कोई रोगी पैदा हुआ, और डाक्टर कहे कि अच्छा, तू मर बेटा, मर, यह तेरे पूर्वजन्म का कर्म है, तो वह डाक्टर कैसा ? भले ही अपने पूर्वजन्मों के कर्मों से कोई कष्ट भोगता आज दिखायी देता है, पर उसके कष्ट को दूर करना हमारा कर्तव्य है कि नहीं ? आज भले ही वह अज्ञान में डूबा दिखता है, तो उसे ज्ञान देना हमारा कर्तव्य है कि नहीं ? आज जो रोगी दिखता है, उसे स्वस्थ करना हमारा कर्तव्य है कि नहीं ? स्वामी विवेकानन्द ने हमें इन सब बातों पर विचार करने के लिए कहा और यह सीख दी कि समग्र मानव की सेवा ही भगवान् की सेवा है, उससे मुँह मोड़ना कोई धर्म

की बात नहीं है। बहुत पहले हमारे सामने एक महान् सत्य रखा गया था--'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय'। स्वामीजी ने उसके भी आगे जाकर 'सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय' यह मंत्र सबके सामने रखा और कहा कि If you want to serve God, serve man--'यदि तुम्हें भगवान् की सेवा करनी है, तो मनुष्य की सेवा करो'। वह भगवान् ही रोगी मनुष्य, दरिद्र मनुष्य और सब प्रकार के मनुष्यों के रूप में हमारे सामने खड़ा है। इसलिए उन्होंने कहा--'तुम्हें यह तो सिखाया गया है कि अतिथिदेवो भव, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव; पर अब मैं तुमसे कहता हूँ--दरिद्रदेवो भव, अज्ञानीदेवो भव, मूर्खदेवो भव !' सबको देव समझकर, भगवान् समझकर उनकी सेवा करनी चाहिए, यह श्रेष्ठतम सिद्धान्त स्वामीजी ने हमारे सामने रखा। अभी तक तो हमारे यहाँ के लोग यही मानते थे कि किसी कोने में बैठना, गिरि-कन्दराओं में चले जाना और नाक पकड़ना, जिसके बारे में शंकराचार्य महाराज ने कहा कि यह तो बेकार ही है--'नासपीड़न-केवलम्', तथा इस प्रकार से कुछ करते रहना इसी में धर्म है। ऐसे समय स्वामी विवेकानन्द हमारे बीच आये। हमने अपने चारों ओर जो धर्म का एक संकुचित दायरा बना लिया था, उसे उन्होंने तोड़ा और हमें सिखाया कि मानवमात्र को भगवान् का ही प्रकट रूप मानकर उनकी सेवा करो। इस प्रकार उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त को प्रत्यक्ष व्यवहार के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर एक नवीन

और परम श्रेष्ठ उपलब्धि हमें प्रदान की। हम इतने वर्षों तक यही मानते थे कि हमें दुनिया से क्या लेना-देना है, हम अपने ही में बैठेंगे, भगवान् की पूजा करेंगे, उपासना करेंगे, ग्रन्थ-पठन करेंगे, नाम-कीर्तन करेंगे, प्राणायाम करेंगे। पर स्वामीजी ने आकर बताया कि मात्र इतने से काम न होगा। मनुष्य की सेवा करो, नर में नारायण की सेवा करो, जीव में शिव की सेवा करो। इस प्रकार एक नवीन उपलब्धि उन्होंने हमारे समक्ष रखी। वैसे तो पूर्णता में कोई नवीनता होती नहीं। स्वामीजी ने स्वयं कहा कि नवीन अब कुछ नहीं है। जिस दिन किसी ने 'तत्त्वमसि' की घोषणा की, उसी दिन ज्ञान की इति हो गयी और परमश्रेष्ठ अवस्था का निरूपण हो गया। अब जो कुछ बताना है वह नया नहीं है। वही पुरानी बात ही बतानी है। पर हाँ, उस बात की अभिव्यक्ति एक नवीन ढंग से हो सकती है। स्वामीजी की उपलब्धि को नवीन कहने का यही तात्पर्य है।

स्वामीजी में ईश्वरीय शक्ति थी। वे जब बोलते थे, तो लोग उन्हें सुनने के लिए उन्मुख हो जाते थे। अमेरिका के एक समाचार-पत्र ने तो उनके बारे में यहाँ तक कह दिया——He is an orator by divine right, अर्थात् 'वे ईश्वरीय अधिकार से युक्त वक्ता हैं!' तभी तो बाहर के लोगों ने स्वामीजी को सुना और ऐसे सुना जैसे किसी मसीहा को सुनते हैं। तब तो हमारी स्थिति ऐसी थी कि अगर हमारे देश का कोई मनुष्य बाहर जाता,

तो उसे भला कौन सुनता ? उसका कहना भला कौन मानता ? हमारा देश तो विदेशों के हाथ में बिका हुआ था, गुलामी चारों ओर छायी हुई थी। पता नहीं आप जानते हैं कि नहीं, इतने बड़े विश्वकवि कहलानेवाले रवीन्द्रनाथ टैगोर एक बार जापान गये। उन्हें वहाँ की यूनिवर्सिटी ने भाषण के लिए निमंत्रण दिया। पर खेद की बात, न तो यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी उनके भाषण को सुनने गये, न अध्यापक ही। बस, निमंत्रण देनेवाले पाँच-दस अधिकारी ही सभास्थल में पहुँचे थे। निमंत्रकों को ऐसा लगा कि यह तो इतने बड़े अतिथि का अपमान है, हमें चाहिए कि अनेक लोगों को बुलाकर यहाँ उपस्थित करें। इसलिए दूसरे दिन वे अनेक लोगों के घर पर गये और प्रत्येक से मिलकर कहा--भाई, इतना बड़ा मनुष्य आया है, हमें उसके भाषण में जाना चाहिए; नहीं जाना अच्छा नहीं दिखता। उनको जवाब मिला-- We are not going to listen to the philosophy of the defeated race--'हम पराभूत जाति के लोगों का तत्त्वज्ञान सुनने नहीं जायेंगे !' तो, विदेशों में भारत की तब ऐसी स्थिति थी। कौन उसकी आवाज सुनता ? परन्तु ईश्वर की अगाध लीला को भला कौन समझ सकता है ! किसी के मन में आया कि सारे विश्व के भिन्न भिन्न धर्मों का सम्मेलन किया जाय। उसके बाद भी कई बार लोगों ने ऐसे सम्मेलन किये और अभी भी हर स्थान पर ऐसे सम्मेलन होते हैं, हमारे इस विवेका-

नन्द आश्रम या रामकृष्ण मिशन की ओर से भी ऐसे सम्मेलन करने का प्रयत्न होता है, परन्तु वह जो हुआ वह अभूतपूर्व था। मैं समझता हूँ कि उसके पहले वैसा सम्मेलन न तो किसी ने किया था, और न बाद में वैसा कभी हो सकेगा। बाद में जितने भी सम्मेलन हुए, उनमें वह तेज नहीं आ पाया। उस धर्म-सम्मेलन को तो मानो ईश्वर ने ही बुलाया था। किसी को निमित्त बनाकर आगे बढ़ा दिया। मानो ईश्वर ने ही यह योजना की। किसलिए? इसलिए कि यह जो तेजपुंज हमारे यहाँ उत्पन्न हुआ था और जिसे भगवान् रामकृष्ण ने जगत् के सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट करने के लिए प्रेरित किया था, वह वहाँ जाकर मानो एक भीषण बम के समान गर्जना करते हुए फट जाय, जिससे कि अज्ञान के सारे परदे नष्ट हो जायँ और सन्मार्ग का पथ प्रशस्त हो जाय। और विचित्रता तो देखिए, सबको निमंत्रण मिला था, पर स्वामीजी को कोई निमंत्रण नहीं था। फिर भी कई लोगों के कहने पर वे अमेरिका गये और वहाँ उन्हें कैसी कैसी परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा यह हमें मालूम ही है। उनका जीवन-चरित्र पढ़ने पर पता चलता है कि जिसे निमंत्रण नहीं, प्रतिनिधियों की सूची में जिसका नाम नहीं, ऐसे व्यक्ति को भी प्रवेश मिल जाता है! यह ईश्वर की ही योजना नहीं तो और क्या है? और प्रवेश देने की व्यवस्था करते समय एक श्रेष्ठ विद्वान् तो यहाँ तक कह बैठते हैं कि 'अरे! इनसे परिचय-पत्र

माँगना मानो सूर्य को यह पूछने के समान है कि तुम्हारा प्रकाश देने का अधिकार क्या है !' उनके थोड़े से सम्पर्क से ही कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों के मन में उनकी महत्ता का ऐसा बोध हो गया। स्वामीजी को धर्म सम्मेलन में प्रवेश मिला। प्रथम दिन के अपने एक छोटे से औपचारिक भाषण के द्वारा ही उन्होंने पूरे विश्व के विभिन्न धर्मों के श्रेष्ठ पुरुषों की सभा जीत ली। वे वहाँ के अनभिषिक्त राजा बन गये। उनका एक-एक शब्द सुनने के लिए सहस्रों लोग आतुर हुए रहते थे। विरोधी विरोध करने के लिए खड़े हुए, तो निष्प्रभ हो गये। वे जिधर भी गये, इस प्रकार गये जैसे एक चक्रवर्ती सम्राट् अपनी विजयवाहिनी लेकर अप्रतिहत गति से सभी ओर जाता है। वे इँगलैंड गये, फ्रान्स गये, भिन्न भिन्न देशों में गये और महान् तत्त्वज्ञों से मिले। सभी लोगों के अन्दर उन्होंने एक नवीन जागृति उत्पन्न की। उस जागृति का प्रभाव हमें भी धीरे धीरे देखने को मिलेगा।

आज विश्व के राष्ट्रों में परस्पर भिन्न भिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्र बनाने की होड़ है, भौतिकता के ऐश्वर्योपभोग में अधिकाधिक मात्रा में डूबने की होड़ है। इस होड के साथ ही अब लोगों के मन में इस विचार का भी उदय होने लगा है कि अरे, हम कहाँ जा रहे हैं ? न तो लोग सुख की नींद ले पाते हैं, न उन्हें किसी प्रकार का चैन है। बेचैनी से चौबीसों घण्टे इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। दवाई ले-लेकर उन्हें अपने दिमाग को ठिकाने रखना

पड़ता है। तो क्या इसमें से कोई मार्ग नहीं है? इस प्रश्न के उत्तर में उस महापुरुष की गर्जना स्मरण हो आती है, जो बता गया कि एक महान् मार्ग है––योगमार्ग है, ज्ञानमार्ग है, भक्तिमार्ग है, सब प्रकार के मार्ग अपने ही लिए हैं। आज यह अनुभूति बाहर के देशों में धीरे धीरे बढ़ती जा रही है। यदि हमारा सौभाग्य हुआ तो हम देखेंगे कि भौतिकता की चकाचौंध के बीच स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो मे जाकर सारे जगत् को आलोकित करनेवाली जो ज्योति जलायी, वह समूचे विश्व में कोटि सूर्य सम प्रभावान होकर सारे मानवों पर छा रही है और उसमें मानव सब प्रकार के कल्याण का पथ पाकर भगवत्प्राप्ति की योग्यता अर्जित कर रहा है। मुझे तो ऐसा लगता है कि वह समय मानो निकट आ रहा है। इसलिए आइए, जिन महापुरुष के ज्योतिपुंज में से सारे जगत् को आलोकित करनेवाली ज्योति लेकर विवेकानन्द स्वामी विदेशों में गये, उन महान् युगावतार भगवान् रामकृष्ण और उनके सर्वश्रेष्ठ लीला-सहचर स्वामी विवेकानन्द का हम बार बार स्मरण करें, उनकी वाणी का अध्ययन करें, उनके जीवन के आलोक में अपना जीवन गठित करें, मानव की सेवा में जुटें, किसी प्रकार के स्वार्थ को अपनी सेवावृत्ति में बाधा के रूप में आकर खड़ा न होने दें, तथा अपने जीवन को परिपूर्ण बनाकर इस सत्य को एक बार फिर से अपने जीवन के द्वारा सिद्ध कर दें कि

भारतमाता का एक-एक पुत्र स्वामी विवेकानन्द के तेज से तेजान्वित होकर विश्व को सत्य का ज्ञान देने में पूरी तरह सक्षम है। मैं श्रीस्वामीजी से सबके लिए यही आशीर्वाद माँगता हूँ कि लोग अपने स्वार्थ को पीछे रखने में समर्थ हों। आप लोगों ने इतनी देर मेरी टूटी-फूटी भाषा सुनने का कष्ट किया इसके लिए सबसे क्षमा माँगता हूँ और सबको धन्यवाद देकर अपना वक्तव्य पूर्ण करता हूँ।

•

हमारी सांस्कृतिक धरोहर

गीता प्रवचन–१८

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।२/१६।।

(असतः) असत् का (भावः) अस्तित्व (न विद्यते) नहीं होता (सतः) सत् की (अभावः) अविद्यमानता (न विद्यते) नहीं होती (तत्त्वदर्शिभिः) तत्त्वद्रष्टाओं के द्वारा (तु) सचमुच (अनयोः उभयोः) इस दोनों का (अपि) ही (अन्तः) अन्तिम निर्णय (दृष्टः) देखा गया है।

"असत् का कभी अस्तित्व नहीं होता और जो सत् है, उसकी कभी अविद्यमानता नहीं होती। वास्तव में तत्त्वद्रष्टाओं ने इन दोनों का इस प्रकार अन्तिम निश्चय किया है।"

पिछले श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि सुख-दुःख आदि द्वन्द्व संयोगज होने के कारण आते और जाते हैं, और इसलिए अनित्य हैं। अतएव ऐसे द्वन्द्वों को सह लेने में ही भलाई है। जो ऐसा मानता हुआ सुख और दुःख दोनों में अपनी बुद्धि के सन्तुलन को बनाये रखता है, वही व्यक्ति वास्तव में अमरता का अधिकारी होता है।

अब यहाँ पर श्रीभगवान् एक गूढ़ दार्शनिक सत्य की घोपणा करते हैं। वे साधक को दर्शन का पाठ पढ़ाते हैं। वे बतलाते हैं कि असत् वह है, जिसका कभी अस्तित्व नहीं होता; वह हरदम असत् ही होता है। यदि असत् अभी सत्-सा मालूम भी पड़े, तो वह मालूम पड़ना अज्ञान या भ्रम के कारण होता है। और जो सत् है, उसका किसी काल में लोप नहीं होता। जो एक काल में दिखायी पड़े और दूसरे काल में न दिखायी पड़े, उसे असत् जानना चाहिए। सत् की सत्ता तीनों कालों में होती है। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में सत् की सत्ता एक-जैसी होती है। जिसकी सत्ता में किसी प्रकार का परिवर्तन हो, वह वस्तुतः अ-सत् ही है। सत् और असत् ये दोनों परस्पर भिन्न हैं और अलग अलग गुणधर्मों से युक्त हैं। संसार में केवल ये दो ही पदार्थ हैं। इस प्रकार का अन्तिम निश्चय उन लोगों ने किया है, जो तत्त्वद्रष्टा हैं, जिन्होंने जीवन के सत्य को देखा और समझा है।

इस श्लोक के माध्यम से एक ऐसा सत्य घोषित

हुआ है, जिसकी धारणा बड़ी कठिन मालूम होती है। इस कठिनाई का कारण यह है कि जो सत्-पदार्थ है, वह इन्द्रियगम्य नहीं होता। उसका बोध इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, प्रत्युत एक अलग ही तरीके से होता है। श्रीशंकराचार्य श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रथम अध्याय के तीसरे मंत्र पर भाष्य करते हुए लिखते हैं--'प्रमाणान्तर-अगोचरे वस्तुनि प्रकारान्तरम् अपश्यन्तः ध्यानयोग-अनुगमेन परममूलकारणं स्वयमेव प्रतिपेदिरे'--जो वस्तु प्रमाणों से गोचर नहीं होती, उसे उन ऋषियों ने एक भिन्न ही प्रकार से देखा। वह भिन्न प्रकार था--ध्यानयोग का अनुगमन, जिसके द्वारा उन्होंने जगत् के उस परम मूलकारण का अपने तईं अनुभव कर लिया।

यह परम मूलकारण ही एकमात्र सद्-वस्तु है, क्योंकि तीनों कालों में इसी की विद्यमानता है। शेष जितने भी कारण-पदार्थ हैं, वे कार्य-पदार्थ भी हुआ करते हैं, और चूँकि कार्य-पदार्थ एक काल में विद्यमान रहता है और दूसरे काल में नहीं, इसलिए असत् है। इसी तर्क को सभी स्तरों पर लागू करते हुए ले जायँ, तो हम देखेंगे कि समस्त कार्य-शृंखला असत् है। एकमात्र वही सत् है, जो किसी कारण का कार्य नहीं है और ऐसी सद्-वस्तु का बोध कराने के लिए ही 'परममूलकारण' शब्द की व्यंजना की गयी है। 'परममूलकारण' वह है, जो कभी भी किसी का कार्य या परिणाम नहीं होता, बल्कि जो सभी कार्यों के आधार के रूप में विद्यमान रहता है।

उदाहरण के लिए मिट्टी से बने एक खिलौने को लें। 'खिलौना' कार्य है और उसका कारण है 'मिट्टी'। पर 'मिट्टी' स्वयं अपने आप में एक कार्य है और उसका कारण है 'पंचमहाभूत'। पर यह 'पंचमहाभूत' भी अपने आप में एक कार्य है और इसका कारण है तन्मात्राएँ। तन्मात्राएँ भी अपने आप में कार्य हैं और इनका कारण है 'अहंकार'। 'अहंकार' भी स्वयं में कार्य है और इसका कारण है 'महत्'। 'महत्' भी स्वयं एक कार्य है और इसका कारण है 'प्रकृति'। इस 'प्रकृति' को 'प्रधान' या 'अव्यक्त' कहकर भी पुकारा गया है। यह सांख्य दर्शन की दृष्टि है। वेदान्त और कुछ आगे जाता है। वह कहता है कि यह प्रकृति प्राण और आकाश इन दो तत्त्वों से बनी है। प्राण energy (एनर्जी) का बोधक है और आकाश matter (मैटर) का। प्रश्नोपनिषद् ने इन्हीं दो तत्त्वों को क्रमशः 'प्राण' और 'रयि' कहकर पुकारा है। प्राण जब आकाश पर अपनी क्रिया करता है, तब प्रकृति में, जो कि सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है, विकार उत्पन्न होता है। इसके फलस्वरूप तीनों गुणों की समता नष्ट हो जाती है और सारा कार्य-समुदाय क्रमशः उत्पन्न होता है। प्रकृति के इन दो रूपों को गीता में परा और अपरा के नाम से पुकारा गया है। गीता के सातवें अध्याय के चौथे से सातवें श्लोक तक भगवान् के वचन इस सन्दर्भ में मननीय हैं——

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहंकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—— अर्थात्, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश (ये पाँच सूक्ष्म भूत), मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकारों में मेरी प्रकृति विभाजित है। यह अपरा अर्थात् निम्न श्रेणी की (प्रकृति) है। हे महाबाहो! यह जानो कि इससे भिन्न, जगत् को धारण करनेवाली परा अर्थात् उच्च श्रेणी की जीवनस्वरूपी मेरी दूसरी प्रकृति है। समझ रखो कि इन्हीं दोनों से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं। सारे जगत् का प्रभव यानी मूल और प्रलय यानी अन्त मैं ही हूँ। हे धनंजय! मुझसे परे और कुछ नहीं है। धागे में पिरोये हुए मणियों के समान मुझमें यह सब गुँथा हुआ है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रकृति के ये दोनों रूप, जिनसे यह सारा चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है, साक्षात् उस परम तत्त्व से ही निकले हैं। अर्थात्, प्रकृति भी वस्तुतः स्वयं एक कार्य है और उसका कारण है परमात्मा, जिसे श्रीशंकराचार्य ने 'परममूलकारण' कह-कर पुकारा है। मुण्डक उपनिषद् (२।१।२) भी इसी अर्थ को ध्वनित करते हुए कहता है——

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिराप: पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।।

--'इस (परम पुरुष) से प्राण, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व को धारण करनेवाली पृथ्वी--ये (सब) उत्पन्न होते हैं।' प्रश्नोपनिषद् (६।४) में भी पिप्पलाद ऋषि भरद्वाज के पुत्र सुकेशा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं--'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिराप: पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्रा: कर्म लोका लोकेषु च नाम च'--'उस पुरुष ने प्राण को रचा; फिर प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन और अन्न को तथा अन्न से वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोकों को एवं लोकों में नाम को उत्पन्न किया।'

इस प्रकार गीता और उपनिषद् हमें यही बताते हैं कि वह परमात्मा ही एकमात्र ऐसा कारण है, जो स्वयं कभी किसी का कार्य नहीं बनता। इसीलिए उसे शास्त्रों ने 'स्वयम्भू' कहकर पुकारा है--वह, जो अपने आप ही उत्पन्न हुआ हो, जो किसी का परिणाम न हो। गीता के जिस श्लोक का हम अभी विवेचन कर रहे हैं, वह कहता है कि सद्वस्तु वह है जो हरदम है। एकमात्र परमात्मा ही ऐसा है जो हरदम है, शेष सब तो कार्य की श्रेणी में आने के कारण उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, इसलिए एक काल में होते हैं और दूसरे काल में नहीं होते। मिट्टी का खिलौना एक समय नहीं

था, दूसरे समय हुआ और तीसरे समय फिर से नष्ट हो जाता है। मिट्टी अभी है, पर जब हम उसके भीतर घुसकर उसे पकड़ने की कोशिश करते हैं, तो देखते हैं कि वह सूक्ष्म रूप धारण कर रही है, वह अणु (molecule) मात्र हो गयी है। जब हम इस अणु के भीतर घुसते हैं, तो देखते हैं कि वह परमाणु (atom) मात्र हो गया है, और जब हम इस परमाणु के अन्दर जाने की कोशिश करते हैं, तो देखते हैं कि वह इलेक्ट्रान और प्रोटान बनकर हमारी पकड़ से बाहर हो गया है। आज का विज्ञान हमें बताता है कि यह इलेक्ट्रान भी शक्तितरंग में पर्यवसित होकर गायब हो जाता है। संसार में जितने पदार्थ हैं, सबकी अन्त में यही गति होती है। 'शतपथ ब्राह्मण', जो आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व लिखा माना जाता है, हमें बतलाता है कि सभी पदार्थ अन्त में 'यत्' और 'जूः' नामक तत्त्वों में पर्यवसित होते हैं। वहाँ इन दो तत्त्वों को 'प्राण' और 'आकाश' की पूर्वावस्था के रूप में निरूपित किया गया है और शक्ति-तरंग के रूप में, एक प्रकार के प्राण के रूप में इनकी अवस्थिति मानी गयी है। इलेक्ट्रान और प्रोटान के साथ 'यत्' और 'जूः' के लक्षणों का साम्य विस्मयकारी है। पर वैदिक विज्ञान इसके भी आगे गया है। वह इन्हें क्षर पुरुष के रूप मानता है और कहता है कि ये अक्षर से उद्भूत हुए हैं। अक्षर की उत्पत्ति अव्यय से होती है और यह अव्यय उस एक मूल तत्त्व का मायाविशिष्ट रूप है।

इस विवेचन का सार यह हुआ कि एकमात्र परमात्मा ही सद्-वस्तु है और शेष सभी असद्-वस्तु की श्रेणी में आते हैं। अतएव परमात्मा हरदम है और एक-मात्र उसी का अस्तित्व है तथा अन्य जितने रूप दिखायी देते हैं, उनका अस्तित्व कभी नहीं है। इसका व्यावहारिक अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण यह करते हैं कि अर्जुन, तुम अपने आत्मीय-स्वजनों के जिन शरीरों के नाश की चिन्ता से आकुल हो, वे शरीर असत् हैं। अतः भले ही वे दिखते हैं, पर उनकी विद्यमानता नहीं है। इसलिए तुम उनके लिए शोक मत करो। भगवान् यह चाहते हैं कि अर्जुन उन शरीरों के पीछे सदैव विद्यमान उस शरीरी को देखे, जो नित्य है। उदाहरणार्थ, हम एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के बैठकखाने में जाते हैं, जो दिवंगत हो चुका है। वहाँ हम उसके सौ चित्र देखते हैं। पहला चित्र तो वह है, जब वह माता के गर्भ से जन्म लेता है और अन्तिम चित्र वह है, जब उसकी चिता धू-धू करती हुई जल रही है। इन दोनों के बीच उसके भिन्न भिन्न अवस्थाओं में लिये गये चित्र हैं। उसके ये सभी चित्र एक दूसरे से भिन्न हैं। कोई दो चित्र एक समान नहीं हैं। तथापि उन सभी चित्रों को देखकर यही बोध होता है कि ये सारे के सारे उसी एक व्यक्ति के चित्र हैं। जो विभिन्न रूप दिखते हैं, वे अनित्य हैं, पर व्यक्ति के जिस रूप के कारण इन विभिन्न रूपों में एकरूपता दिखायी देती है, वह रूप वस्तुतः अरूप है और आँखों से नहीं दिखायी देता। और

यह अरूप-रूप नित्य है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं। वह सभी दिखनेवाले रूपों का आधार है। मनुष्य का जो रूप दिखायी देता है, वह नोबल-पुरस्कार-विजेता एलेक्सिस कैरल के शब्दों में Man the Known (ज्ञात-मनुष्य) है, और जो रूप नहीं दिखायी देता, वह Man the Unknown (अज्ञात-मनुष्य) है। पर यह अज्ञात-मनुष्य ही ज्ञात-मनुष्य का आधार है और वही सद्-वस्तु है।

अब यह बड़ी विचित्र बात मालूम पड़ती है कि जो सत् है, वह इन्द्रियगोचर नहीं है और जो इन्द्रियगोचर है, वह असत् है। इसका मतलब यह हुआ कि यह सारा संसार जिसमें हम जन्म लेते हैं और बने रहते हैं, कार्य की श्रेणी में होने के कारण असत् है और इसलिए इसका अस्तित्व नहीं है। यहाँ पर कहा जा सकता है कि इस ठोस संसार को असत् कहनेवाला कोई पागल ही हो सकता है। यह सुन्दर शरीर दिखायी देता है, वह कैसे असत् हो सकता है? कलकलनाद करके बहनेवाली यह नदी असत् कैसे हो सकती है? युगों से सिर ऊँचा उठाये खड़ा हुआ हिमालय असत् कैसे हो सकता है? इन प्रश्नों के उत्तर में हम सपने की बात सोचें। स्वप्न में हम भव्य मन्दिर, उत्तुंग शिखर और जाने कितनी चीजें देखते हैं। जब तक स्वप्न चलता है, तब तक उसमें दिखनेवाली सारी वस्तुएँ सत् मालूम पड़ती हैं। पर ज्योंही स्वप्न टूटा, सब की सब एक साथ असत् प्रमाणित होती हैं। इसी प्रकार आज की हमारी

यह जाग्रत् अवस्था भी तुरीय यानी ज्ञान की चरम अवस्था की अपेक्षा से एक विराट् स्वप्न ही है। जब हम ज्ञान की उस भूमिका में पहुँचते हैं, जिसे सद्-वस्तु के साक्षात्कार की अवस्था कहा है, तब यह सारा ठोस दिखनेवाला संसार असत् साबित होता है।

जैसे, एक जादूगर अपने जादू के करतब दिखाता है। जब तक हम वह सब करतब देख रहे हैं, जादू सत्य ही मालूम पड़ता है। पर ज्योंही जादूगर अपना जादू समेटता है, त्योंही जादू की अनित्यता हमारी आँखों के सामने कौंध जाती है। जादूगर ऐसा सत्य है, जो उसके जादू की अपेक्षा से नित्य है। जादू ऐसा सत्य है, जो अनित्य है। हमने कहा कि हम किसी व्यक्ति के सौ चित्र देखते हैं। ये उस व्यक्ति के सौ भिन्न भिन्न रूप हैं। ये रूप सत्य हैं, पर अनित्य हैं। उस व्यक्ति का वह रूप जो दिखायी तो नहीं देता पर जिसकी विद्यमानता के कारण उसके ये विभिन्न रूप सत्य मालूम पड़ते हैं, ऐसा सत्य है जो नित्य है। इस प्रकार सत्य की दो श्रेणियाँ हुईं--एक नित्य सत्य और दूसरा अनित्य सत्य। इस नित्य सत्य को ही विवेच्य श्लोक में 'सत्' के नाम से पुकारा गया है और 'अनित्य सत्य' को 'असत्' कहा गया है। इस सत् का, इस नित्य सत्य का कभी अ-भाव नहीं होता, यानी वह सदैव विद्यमान है यह बात तो समझ में आती है, पर इस असत् का, अनित्य सत्य का कभी

भाव नहीं है, यानी वह कभी अस्तित्व में नहीं है इस बात को समझने में कठिनाई होती है। यह कठिनाई इसलिए है कि असत्, कुछ काल के लिए ही सही, दृग्गोचर तो होता ही है। जो दिखे, उसके लिए कहें कि यह कभी विद्यमान ही नहीं है, बड़ा विचित्र-सा मालूम पड़ता है। पर वेदान्त इस बात की तर्कसंगत व्याख्या करता हुआ कहता है कि देखो, रज्जु में, रस्सी में जब सर्प का भ्रम होता है, तो क्या वहाँ सर्प होता है ? नहीं। फिर भी सर्प की प्रतीति कैसे होती है ? जब हमें सीपी में चाँदी का भ्रम होता है, तो क्या वहाँ पर चाँदी है ? नहीं। तो फिर चाँदी का भ्रम कैसे हुआ ? जब मरुस्थल में जल का भ्रम होता है, तो क्या वहाँ जल होता है ? नहीं। तब फिर जल का भ्रम कैसे हुआ ? तो जिस प्रकार सर्प, चाँदी और जल न होकर भी होते-से दिखायी देते हैं, उसी प्रकार यह असत् या अनित्य सत्य भी वस्तुतः नहीं है, पर हुआ-सा दिखायी देता है।

इस पर कोई कह सकता है कि ठीक है, सर्प नहीं है, फिर भी रस्सी में सर्प का जो भ्रम हुआ उसका कारण यह है कि पहले कभी सर्प की प्रतीति अवश्य हुई है। यदि सर्प की प्रतीति पहले से नहीं होती, तो उसका भ्रम कैसे होता ? यदि चाँदी या जल का हमें पहले से अनुभव न होता, तो सीपी में चाँदी का या मरुभूमि में जल का भ्रम कैसे होता ? इसी प्रकार यदि असत् की प्रतीति पूर्व से न हो, तो सत् में उसका भ्रम कैसे सम्भव है ? अतएव

यह मानना पड़ेगा कि असत् पूर्व से विद्यमान है, यानी असत् का भाव है। यदि असत् हो ही नहीं, तो उसकी प्रतीति भला कैसे हो सकती है ? वन्ध्यापुत्र की प्रतीति तो नहीं होती, खरगोश के सींग की प्रतीति तो नहीं होती।

इस शंका के उत्तर में यह कहा जाता है कि यह तर्क ठीक है। यह ठीक है कि यदि असत् की प्रतीति पहले से न हो, तो उसका भ्रम नहीं हो सकता। वन्ध्यापुत्र या खरगोश के सींग होता ही नहीं, इसलिए उसका भ्रम भी कभी किसी को नहीं होता। भ्रम हुआ इसका मतलब है कि उसकी प्रतीति है। यह जगत् वन्ध्यापुत्र या खरगोश के सींग के समान असत् नहीं है। आचार्य शंकर मुण्डकोपनिषद् पर अपने भाष्य में जगत् का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं--'कदलीगर्भवदसारान् मायामरीच्युदकगन्धर्वनगराकारस्वप्नजलबुद्बुदफेनसमान् प्रतिक्षणप्रध्वंसान्'--वह केले के भीतरी भाग के समान सारहीन है; माया, मृगजल और गन्धर्वनगर के समान भ्रमपूर्ण है तथा स्वप्न, जल-बुद्बुद और फेन के सदृश क्षण-क्षण में नष्ट होनेवाला है। जिस अर्थ में स्वप्न, मृगजल या जल के बुलबुले का 'भाव' नहीं है, उसी अर्थ में 'असत्' का भी 'भाव' नहीं है। पिछले जन्म में हमारे मन पर इस 'असत्' यानी 'अनित्य सत्य' के संस्कार पड़े, इसलिए इस जन्म में हमें इस असत् जगत् की प्रतीति हुई और इसी कारण रज्जु में सर्प के भासने के समान् ब्रह्म में असत् का भास होता है। प्रश्न उठता है कि पिछले जन्म में असत्

की प्रतीति कैसे हुई? उत्तर है कि उससे भी पिछले जन्म में असत् जगत् के संस्कार मन पर पड़े थे इसलिए। इस तर्क को और पीछे खींचकर ले जायँ, तो यह प्रश्न खड़ा होता है कि आख़िर सबसे प्रथम इस असत् की प्रतीति का प्रारम्भ कब से हुआ ? इसका उत्तर वेदान्त देता है--अनादि काल से।

--क्यों हुआ ?

--माया के कारण।

--यह माया क्या है ?

--उस ब्रह्म की, उस एकमात्र सद्-वस्तु की अनिर्वचनीय शक्ति है।

--यदि माया को अनादि मानो, तो उसका अन्त भी नहीं है और यदि माया अनादि के साथ साथ अनन्त भी है, तो फिर वह भी सद्-वस्तु हुई ?

--नहीं, माया अनादि भले ही है, पर वह अनन्त नहीं है, उसका अन्त होता है। इसलिए वह सद्-वस्तु नहीं हो सकती।

--उसका अन्त कब होता है ?

--उस समय, जब उस ब्रह्म को, उस परममूल-कारण को, उस एकमात्र सद्-वस्तु को जान लिया जाता है, जिसके सम्बन्ध में श्रुति भगवती कहती है--'सदेव सोम्य इदमग्रासीत् एकमेवाद्वितीयम्'--'हे सोम्य ! सर्वप्रथम वह एक और अद्वितीय सद्-वस्तु ही विद्यमान थी।'

--उसका ज्ञान कैसे होता है ?

—ध्यानयोग के अनुगमन द्वारा।

आचार्य शंकर श्वेताश्वतरोपनिषद्-भाष्य में कहते हैं कि ऋषियों ने उस परममूलकारण को, जो समस्त प्रमाणों के अगोचर है, एक भिन्न ही प्रकार से देखा और वह था ध्यानयोग का अनुगमन। जब हम अपने मन को संसार की वस्तुओं से समेटकर उसके अपने ही ऊपर एकाग्र करते हैं, तो यह ध्यानयोग के अभ्यास के नाम से जाना जाता है। मात्र मन की एकाग्रता को ध्यानयोग नहीं कहते। मन तो अपनी अभिरुचि के विषय में सहज ही एकाग्र हो जाता है। यदि किसी को संगीत में रुचि है, तो संगीत का अभ्यास करते समय उसका मन अपने आप संगीत में एकाग्र हो जाता है। यदि किसी को चित्रकारी में रुचि हो, तो चित्र बनाते समय उसका मन वहाँ एकाग्र हो जाता है। कलाकार का मन कला में एकाग्र हो जाता है। पर इसे 'ध्यानयोग' नहीं कहते। हम 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में पढ़ते हैं कि शकुन्तला दुष्यन्त के ध्यान में इतनी तल्लीन थी कि उसे दुर्वासा मुनि के आने का पता तक न चला और इस प्रकार वह उनकी शापभाजन बनी। पर उसकी यह एकाग्रता भी ध्यानयोग की एकाग्रता नहीं है। तो ध्यानयोग की एकाग्रता क्या है ? जब हम अपने मन को संसार के पदार्थों से समेटकर उसके अपने ऊपर ही केन्द्रित करते हैं, तो यह अभ्यास ध्यानयोग के अभ्यास के नाम से जाना जाता है। जिस उपाय से हमारा मन बाहर के पदार्थों से

हटकर अपने स्वयं के ऊपर आकर खड़ा हो जाय, उसे ध्यानयोग कहते हैं। आज हमारा मन अत्यन्त बिखरा हुआ है, इसलिए हमें उसकी सम्भावनाओं का पता नहीं चलता। आज हमारा मन भोथरा है, उसमें penetrating power (भेदनशक्ति) नहीं है। परन्तु जिस समय ध्यानयोग के अभ्यास के द्वारा हम अपने मन को स्वयं अपने ही ऊपर एकाग्र करने में समर्थ होते हैं, तो मन में अन्तर्भेदन की शक्ति आ जाती है और वह अपनी गहराइयों में उतरने लगता है, अपनी परतों को छेदता हुआ नीचे उतरता जाता है। उस समय कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और हमें विलक्षण आध्यात्मिक अनुभव होने लगते हैं। एक समय ऐसा भी आता है, जब मन अपनी सारी परतों को भेदकर अपनी सीमा को मानो छलाँग मारकर पार कर जाता है और उस अवस्था में लीन हो जाता है, जिसे माण्डूक्य उपनिषद् की भाषा में कहा गया है——

'अदृष्टम् अव्यवहार्यम् अग्राह्यम् अलक्षणम् अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम् एकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवम् अद्वैतं चतुर्थम्। स आत्मा स विज्ञेयः।'——'वह चौथी अवस्था तुरीय ऐसी है, जो अदृष्ट (ज्ञानेन्द्रियों की पकड़ में न आनेवाली), अव्यवहार्य (व्यवहार से परे), अग्राह्य (कर्मेन्द्रियों की पकड़ में न आनेवाली), अलक्षण (सब प्रकार के लक्षणों से, पहचान से शून्य), अचिन्त्य (मन-बुद्धि से परे), अव्यपदेश्य (वाणी द्वारा अकथनीय), एकात्मप्रत्ययसार (एकमेव आत्मतत्त्व के बोध से ही प्राप्त

होनेवाली), प्रपंचों से परे, शान्त (अविकारी), शिव (मंगलमय) और अद्वैत (सब प्रकार के भेदों से रहित) है। वही आत्मा है और वही ज्ञातव्य है।'

यह तुरीय, यह चतुर्थ अवस्था, यह आत्मा ही एकमात्र सत् है। शेष तीन अवस्थाओं में––जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में जो कुछ अनुभव में आता है, सब असत् है। भगवान् कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि सत् और असत् के तत्त्व को तत्त्वद्रष्टाओं ने इस प्रकार जाना है कि सत् सदैव है और असत् कभी नहीं है। यह जो असत् अस्तित्ववान्-सा दिखाई देता है, वह इस सत् की ही अनिर्वचनीय मायाशक्ति का खेल है। यदि पूछो कि सत् की इस मायाशक्ति का उद्भव कब, क्यों और कैसे हुआ? –– तो इसका उत्तर मात्र मौन है।

अब आगे के श्लोकों में सत् और असत् की परिभाषाएँ दी गयी हैं, जिन पर हम अगली बार विचार करेंगे।

•

इस संसाररूप नरककुण्ड में एक दिन के लिए भी किसी व्यक्ति के चित्त में थोड़ासा आनन्द एवं शान्ति प्रदान की जा सके, तो उतना ही सत्य है। आजन्म मैं तो यही देख रहा हूँ; बाकी सब कुछ व्यर्थ की कल्पनाएँ हैं।

–स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण जय !

स्वामी श्रुतिसारानन्द

रामकृष्ण जय जग-जन-नायक
दयासिन्धु चिर दीन-सहायक ।
साधु-सग-महिमा गुण-गायक
सन्त-सुजन मन अति सुखदायक ।
जीवहृदय अघ-तिमिर-विनाशक
भक्तमुदितमन मंगलकारक ।
काम-क्रोध-मद-लोभ विदारक
जय त्रिताप भव-भय संहारक ।
रासरसिक रसभाव उपासक
गोपी-गीता मर्म प्रकाशक ।
शरणागत प्रति अभय-प्रदायक
भक्ति-ज्ञान पथ अमल विधायक ।
मति अनुकूल पन्थ उद्घोषक
सदाचार सन्मति के पोषक ।
श्रुति-प्रतिपादक जग कैवर्तक
रामकृष्ण जप जीवन सार्थक ।।

*

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) कृषक बुद्धदेव

एक बार बुद्धदेव भिक्षा माँगते हुए एक कृषक के घर गये। कृषक ने उन्हें देखा, तो कहा, "तुम तो हट्टे-कट्टे दिखायी देते हो। जब मैं कृषि करके अपने परिवार का पोषण कर सकता हूँ, तब तुम कृषि करके स्वयं का पेट कैसे भर नहीं सकते ?"

इस पर बुद्धदेव बोले, "मैं भी तो कृषि करता हूँ।"

साश्चर्य कृषक ने पूछा, "मगर तुम्हारे नाँगर, बैल आदि हैं कहाँ ?"

बुद्धदेव बोले, "मैं कृषि करता हूँ, मगर मेरी खेती आत्मा या हृदय की होती है, जिसमें ज्ञान के हल से श्रद्धा के बीज बोता हूँ और तपस्या के जल का सिंचन करता हूँ, विनय मेरे हल की हरिस, विचारशीलता फाल और मेरा मन नरैली है। दिन-रात परिश्रम करता हूँ, जिसमें अमरता की फसल लहलहाती है और अधिक अनाज पैदा होता है। इस पैदावार को मैं सबको बाँटता फिरता हूँ, फिर भी मेरा भण्डार खाली नहीं होता। यदि तुम अपनी खेती का कुछ हिस्सा मुझे दोगे, तो बदले में मैं कुछ हिस्सा तुम्हें दे दूँगा। क्या तुम्हें यह सौदा पसन्द है?"

बात किसान की समझ में आ गयी। वह उनके चरणों में गिर पड़ा और उसने उन्हें भिक्षा लाकर दी।

(२) खुदा का घर कहाँ नहीं !

गुरुनानक तीर्थाटन करते हुए मक्काशरीफ पधारे।

रात हो गयी थी, अतः वे समीप के एक वृक्ष के नीचे सो गये। सबेरे जो उठे, तो उन्होंने अपने चारों ओर बहुत सारे मुल्लाओं को खड़ा पाया। उनमें से एक ने नानकदेव को उठा देख डाँटकर पूछा, "कौन हो जी तुम, जो खुदापाक के घर की ओर पाँव किये सो रहे हो ?" बात यह थी कि नानकदेव के पैर जिस ओर थे, उस ओर काबा था। नानकदेव ने उत्तर दिया, "जी, मैं एक मुसाफिर हूँ, गलती हो गयी। आप इन पैरों को उस ओर कर दें, जिस ओर खुदा का घर नहीं है।" यह सुनते ही उस मुल्ला ने गुस्से से पैर खींचकर दूसरी ओर कर दिये, किन्तु सबको यह देख आश्चर्य हुआ कि उनके पैर अब जिस दिशा की ओर किय गये थे, काबा भी उसी तरफ है! वह मुल्ला तो आगबबूला हो उठा और उसने उसके पैर तीसरी दिशा की ओर किये, किन्तु फिर यह देख वह दंग रह गया कि काबा भी उसी दिशा की ओर है। सभी मुल्लाओं को लगा कि यह व्यक्ति जरूर ही कोई जादूगर होगा। वे उन्हें काजी के पास ले गये और उन्होंने उसे सारा वृत्तान्त कह सुनाया। काजी ने नानकदेव से प्रश्न किया, "तुम कौन हो, हिन्दू या मुसलमान ?"

'जी, मैं तो पाँच तत्त्वों का पुतला हूँ," उत्तर मिला।

"फिर तुम्हारे हाथ में पुस्तक कैसे है ?"

"यह तो मेरा भोजन है। इसे पढ़ने से मेरी भूख मिटती है।"

इन उत्तरों से ही काजी जान गया कि यह साधारण

व्यक्ति नहीं, बल्कि कोई पहुँचा हुआ महात्मा है। उसने उनका आदर किया और उन्हें तख्त पर बिठाया।

(३) स्पष्टवादिता

एक बार स्वामी दयानन्द सरस्वती नवाब नवाजिस अलीखाँ की कोठी पर उतरे हुए थे। उनसे चर्चा करने के लिए सभी प्रकार के लोग आया करते थे। एक दिन इस्लाम धर्म पर चर्चा चली और स्वामीजी ने उसका खण्डन शुरू कर दिया। नवाब भी वहाँ उपस्थित थे और दूर से उनकी बातें सुन रहे थे। थोड़ी देर तक तो वे चुप रहे और जब उनसे न रहा गया, तो स्वामीजी के पास आये और बोले, "मैंने कृपा करके आपको ठहरने के लिए कोठी दी और आप यहाँ हमारे इस्लाम का खण्डन करते हैं! यदि आपका इसी प्रकार का रवैया रहा, तो मैं नहीं सोचता कि आपके ठहरने के लिए कोई हिन्दू, मुसलमान या ईसाई स्थान दे।" इस पर स्वामीजी ने उत्तर दिया, "आपने अपनी कोठी में ठहरने के लिए स्थान दिया है, इसका यह अर्थ नहीं कि मैंने अपनी सुख-सुविधा के लिए अपना धर्म बेच डाला है। मैं सत्य बात हमेशा कहूँगा। मुझे किसी प्रकार का भय या एहसान की भावना अपने विचारों को व्यक्त करने से नहीं रोक सकती, फिर चाहे ऐसा करने में मुझे क्लेश भी क्यों न हो!"

(४) सादगी

एक बार सन्त दादू जंगल में विश्राम कर रहे थे। उनके दर्शन करने के लिए लोग वहाँ भी आने लगे।

नगर के एक कोतवाल ने जब उनकी महिमा सुनी, तो वह भी अपने अश्व पर आरूढ़ हो उनके दर्शन को निकला। मार्ग में उसे लँगोटी धारण किया हुआ एक कृशकाय व्यक्ति जंगल साफ करता दिखायी दिया। कोतवाल नें उससे पूछा, "ऐ भिखारी! क्या तू जानता है कि यहाँ कोई सन्त दादू रहते हैं?"

उस व्यक्ति ने उसकी ओर देखा मात्र और अपने काम में लग गया। उसे चुपचाप देख कोतवाल ने पुनः प्रश्न किया, किन्तु उसे कोई उत्तर न देते देख वह गुस्सा हो गया और उसे चाबुक से मारते हुए बोला, "तू गूँगा है क्या? मैं तुझसे पूछ रहा हूँ और तू उसका जवाब भी नहीं देता!" जब उसके शरीर से खून निकलता दिखायी दिया, तो उसे दया आयी और उसने मारना बन्द किया। इतने में एक व्यक्ति वहाँ से गुजरा। उससे भी कोतवाल ने वही प्रश्न किया। उस व्यक्ति ने उत्तर दिया, "ये जो मार्ग के काँटे साफ कर रहे हैं, यही तो सन्त दादू हैं।"

अब तो कोतवाल की दशा ऐसी हो गयी कि काटो तो बदन में खून नहीं। वह उनके पैरों पर गिर पड़ा और उनसे क्षमा माँगी। तब सन्त दादू बोले, "कोई भी ग्राहक बाजार में जब घड़ा खरीदने जाता है, तो पहले ठोंक-पीटकर ही तो उसकी जाँच करता है। तुम्हें भी शायद मुझे गुरु बनाना था, इसीलिए मुझे ठोंका-पीटा है, सो इसमें क्षमा काहे की?"

(५) स्पृश्यास्पृश्यता

सन्ध्या का समय था। रामकृष्ण परमहंस नागा सन्त

श्री तोतापुरी के साथ अध्यात्म पर चर्चा कर रहे थे। शीत काल के दिन थे, समीप ही अँगीठी रखी हुई थी। इतने में बाग का माली वहाँ आया और उस आग से अपनी चिलम भरने लगा। तोतापुरीजी ने जब यह देखा, तो उन्हें गुस्सा आया और उन्होंने उसे न केवल डाँटा, बल्कि दो-चार चिमटे भी धर दिये। यह देख रामकृष्ण देव को हँसी आ गयी। तब तोतापुरी बोले, "इस अस्पृश्य नौकर ने अग्नि को स्पर्श करने की धृष्टता की, जिसका मैंने उसे फल दिया और तुम हँस रहे हो!"

परमहंस देव बोले, "मुझे तो आज ही मालूम हुआ कि कोई वस्तु स्पर्श करने मात्र से अपवित्र हो जाती है। साथ ही आपके ब्रह्मवाद की वास्तविकता का भी ज्ञान आज ही हुआ। अभी अभी थोड़ी देर पहले आप 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' का पक्ष लेकर दलीलें दे रहे थे कि सारा संसार एक ब्रह्म के प्रकाश-प्रतिबिम्ब के सिवा और कुछ नहीं है और दूसरी ओर केवल अग्नि को स्पर्श करने के कारण ही आपने इस नौकर को मारना शुरू कर दिया! मगर मैं इसे आपका दोष नहीं मानता। यह तो आपके अन्दर के अहंकार के कारण हुआ है, जिसे जीत पाना उतना सरल नहीं।"

यह सुन तोतापुरीजी लज्जित हुए और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे स्पृश्यास्पृश्य-भाव का त्याग करेंगे।

♣

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

(पिछले अंकों में आप पढ़ चुके हैं कि स्वामी विवेकानन्द १२ फरवरी को डिट्रायट पहुँचे तथा वहाँ की अत्यन्त प्रभावशाली महिला श्रीमती जॉन जे० बागली के अतिथि बने। अपने प्रथम तीन व्याख्यान 'भारत के रीति-रिवाज', 'हिन्दू धर्म' और 'मानव का दिव्यत्व' में उन्होंने सनातन हिन्दू धर्म की विशेषताओं का वर्णन किया तथा ईसाई मिशनरियों द्वारा भारत के बारे में प्रचारित भ्रान्त और कुत्सित धारणाओं का निराकरण किया। कट्टरपन्थी पादरी अपने स्वार्थ पर कुठाराघात होते देख बौखला उठे और समाचार-पत्रों में उनके विरुद्ध विष उगलने लगे।)

एक ओर जहाँ इन भाषणों ने कट्टरपन्थी ईसाइयों को तिलमिला दिया, वहाँ दूसरी ओर उदारमना पादरियों ने इनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। उन्होंने उनमें एक नया आलोक पाया और इसकी चर्चा वे अपने रविवार के धर्मोपदेश में करना नहीं भूले। विशेषकर यूनिटेरियन चर्च के रेवरेण्ड रीड स्टुअर्ट तथा टेम्पल बेथ एल के राबी ग्रॉसमैन स्वामीजी के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने उन्हें ही अपने रविवासरीय धर्मोपदेश का विषय बना लिया। रेवरेण्ड रीड का विषय था--"प्राच्य दिशा की ओर द्वार उद्घाटित" तथा राबी ग्रॉसमैन का--"विवेकानन्द ने हमें क्या सिखाया ?"। इन दोनों के प्रवचनों के संक्षिप्त विवरण १९ फरवरी, १८९४ के 'डिट्रायट जर्नल' तथा 'डिट्रायट ट्रिब्यून' में प्रकाशित हुए।

रेवरेण्ड स्टुअर्ट ने पूर्व और पश्चिम की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए कहा कि जहाँ पूर्वीय मन वस्तुओं के बृहत्तर पहलू पर विचार करता है, वहाँ पश्चिम वस्तु के सूक्ष्म पहलू का अध्ययन करता है। एक सम्पूर्णता पर विश्वास करता है, तो दूसरा भी यही करता है, पर उसे विभिन्न भागों में विभाजित करके।...एक ने संसार को दर्शन प्रदान किया है, तो दूसरे ने विज्ञान। दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं, विरोधी नहीं। स्वामीजी के कथनों की पुष्टि करते हुए उन्होंने कहा--"हमें उनके आदर्श में, जो कि दर्शन पर आधारित है, बाधा नहीं डालनी चाहिए। पूर्व जैसा रहना चाहता है, हमें उसे वैसा ही रहने देना चाहिए। पूर्व और पश्चिम दोनों ही महान् हैं, तथा मानव-समाज के लिए आवश्यक हैं। कोई राष्ट्र छोटा है, तो कोई बड़ा। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि बड़े राष्ट्र अपनी सभ्यता का घमण्ड करें। आवश्यक यह है कि सहानुभूतिपूर्वक परस्पर तुलना करके जिसमें जो अच्छाई हो, उसे ग्रहण किया जाय। संसार के दूसरे देशों में केवल वहाँ के दोष दिखाने के लिए मिशनरी भेजना उचित नहीं। जरूरत है वहाँ की अच्छाइयों को ग्रहण करने की। हमारे मिशनरियों ने, जो वहाँ से वापस लौटे, हमसे केवल वहाँ की बुराइयों की चर्चा की और वहाँ के निवासकाल में उन्होंने केवल पश्चिम की ईसाई सभ्यता का गुणगान किया। वहाँ उन्होंने ईसाई धर्म की शान्ति, पवित्रता

तथा उदारता की चर्चा की और जब यहाँ घर लौटे, तो हमारे समक्ष मूर्तिपूजकों की कुरीतियों का ही उल्लेख किया। जो पुस्तकें उन्होंने लिखी हैं, वे ऐसे चित्रो से भरपूर हैं, जिनमें मोहान्ध लोगों को जगरनाट (जगन्नाथ) के रथ के नीचे गिरकर चक्रों में पिसते, विधवाओं को अपने मृत पति के साथ चिता में जीवित जलते, भक्तों का स्वयं को अनेक प्रकार से यातना देते, वृद्ध माता-पिताओं का उचित देखभाल के अभाव में मरते तथा माताओं का अपने शिशुओं को मगर के भयानक जबड़ों में फेंकते दिखाया गया है। उनकी जो भी अच्छाइयाँ थीं, वे हमसे छिपायी गयीं।

"उनके तथा हमारे लिए यह उत्तम होता कि वे सत्य को सामने रखते। अब चूँकि पूर्व भी पश्चिम को अपने मिशनरी भेज रहा है, अतः यह आशा की जाती है कि वे लोग यही गलती नहीं करेंगे। वे घर लौटकर कह सकते हैं कि अमेरिका में प्रति हजार व्यक्तियों में बहुत से हत्यारे तथा चोर निकलते हैं; शराबखोरी का वहाँ बोलबाला है; तलाक की बहुतायत है; सरकारी तथा व्यक्तिगत जीवन में बेईमानी की प्रचुरता है तथा शिशु-हत्या वहाँ कोई नयी चीज नहीं। उन्हें अपने देश-वासियों को यह विश्वास दिलाने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि अमेरिका पूरी तरह असफल रहा है तथा ईसा-इयत बर्बरता, धूर्तता और अन्धविश्वास का धर्म है। अगर वे ऐसा करते हैं, तो यह ठीक वैसा ही होगा, जैसा

हमारे मिशनरियों ने पहले किया है। संसार के लिए यह कितनी बुद्धिमत्ता और अच्छाई की बात हो, यदि लोग जाकर यह पता लगायें कि प्रत्येक सभ्यता में क्या-क्या अच्छाइयाँ हैं, और इन अच्छाइयों को ग्रहण कर उनको सर्व-साधारण की सम्पत्ति बना दें। एक राष्ट्र का हस्तिदन्त दूसरे राष्ट्र के स्वर्ण के साथ मिलकर एक सुन्दर रूप प्रस्तुत कर सकता है। पूर्व की आध्यात्मिकता का पश्चिम की व्यावहारिकता के साथ समन्वय होना चाहिए।...

"अब एक अधिक स्वतंत्र और अधिक व्यापक धर्म की आवश्यकता काफी जोर पकड़ रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमने धर्म की सही परिभाषा तथा माप-जोख करने में उत्साह की अति कर दी। धर्म के चारों ओर हमने सिद्धान्तों और शब्दों की बाड़ लगा दी। उसे हमने एक प्राचीन ग्रन्थ में सीमित कर दिया, अथवा मतान्धता के भीतर ठूँस उसे सम्प्रदायों द्वारा निर्मित कबूतरखाने में घुसाकर उस पर अपने नाम का लेबल लगा दिया!...

"अब उस त्रुटि को दूर करने की माँग जोर पकड़ रही है। यह माँग प्रत्येक सम्प्रदाय में व्याप्त अशान्ति में परिलक्षित होती है।...किन्तु समय आशा से भरा प्रतीत होता है। लोगों की दृष्टि पूर्व की ओर खुलते द्वार की तरफ है और वे उस आदर्श को, अनन्तत्व की महिमा को, विश्व की भव्यता को, जो इन्द्रियों से परे है, उस दरवाजे से प्रवहमान होते देख रहे हैं।..."

रेवरेण्ड स्टुअर्ट ने तो प्राच्य और पाश्चात्य की

तुलना में जरा सावधानी से काम लिया, पर राबो ग्रॉसमैन ने खुले हृदय से स्वामीजी के विचारों की प्रशंसा की तथा बाद में वे उनके एक सच्चे मित्र साबित हुए। सन् १८९६ में जब स्वामीजी पुनः डिट्रायट गये, तो उन्होंने उनके टेम्पल मे व्याख्यान दिया था। राबी ने अपने रविवासरीय धर्मोपदेश में कहा--

"चैपमैन के विकृत भावोद्गार के पुनर्जागरण के पश्चात् विवेकानन्द के स्वस्थ विचारों को सुनना ताजगी प्रदान करनेवाला रहा। उनके वास्तविक सच्चे धर्म को सुनने के बाद यह सहज ही विश्वास हो जाता है कि हमारे अपने देश में उनके देश की अपेक्षा अधिक काफिरी है, जिसका लांछन हम उनके देश पर लगाते हैं। उनका धर्म सम्प्रदायों की सीमा को पार कर जाता है, जबकि हमारे सम्प्रदाय धर्म की शिष्ट सीमा का उल्लंघन कर जाते हैं! . . .कानन्दा का कथन है कि संस्कृत भाषा मे persecution (पर्सिक्यूशन) का कोई पर्यायवाची शब्द नहीं, जबकि हमारी भाषा, हमारा धर्म और दर्शन, हमारा इतिहास और हमारा जीवन ऐसे शब्दों की भरमार से संक्रमित है। हमारा समाज एक युद्धविराम की तरह है, जहाँ शत्रुता कभी खत्म नहीं होती। एक स्वर-वर्ण के झगड़े ने तथा उस पर टीकाकारों के अद्भुत अर्थ ने योरोप को कट्टरपन की आग में झोंक दिया। वह शब्द (होमौशियन--homoiousion या homoousion) राष्ट्रों के रक्त से लिखा गया है। धर्मान्धता ने क्या नहीं किया

है ? हर कदम पर इसने उर्वरा भूमि को तथा शान्तिपूर्ण गृहों को काल के कराल गाल में भेजा है, इसने माँ-बाप को बच्चों से तथा बच्चों को माँ-बाप से छीना है, और अब उसका विकराल हाथ गुप्त रूप से अपने ही बन्धुओं तथा पड़ोसियों के ऊपर उठ रहा है। प्रभु को धन्यवाद है कि अन्त में आज वह आलोक देख भयभीत हुआ है तथा नैराश्य के गर्त में जा पड़ा है।

"अनेक वर्षों से गिरजाघरों द्वारा भारत, चीन तथा अन्य अ-ईसाई देशों में मिशनरी भेजे जा रहे हैं तथा इस धर्मान्तरण के कार्य में विपुल धन, और साथ ही लोगों की शुभेच्छाएँ नियोजित की गयी हैं, जबकि हमारे अपने यहाँ के गरीब अपने ही दरवाजों पर खड़े रहे हैं। जिस दान की हमारे यहाँ ही अत्यधिक आवश्यकता थी, वह ऐसे कार्य में लगाया गया, जो हमसे बहुत दूर है तथा पाखण्डपूर्ण भी है। अपने ही शहर न्यूयार्क की चाल में प्रतिदिन सैकड़ों मनुष्य छोटी-छोटी कोठरियों में नैराश्यपूर्ण भयावह जीवन काट रहे हैं। उदार व्यक्तियों की सेवा ऐसे बहुत से हताश व्यक्तियों को आशा की एक किरण दे सकती थी, थके-माँदे बहुत से कुलियों को हिम्मत बँधा सकती थी तथा बच्चों को गिरती हुई नैतिकता की छूत से बचा सकती थी। किन्तु मिशनरियों को तो 'हीदनों' के पास जाना है! मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि हमारे इस अच्छे और सहृदय देश के बुद्धिमान और उन्नतमना नागरिक ऐसे भ्रम के वशीभूत

कैसे हो गये, जिसे मैं बहकावा तो नहीं कहूँगा ? कानन्दा ने हमें 'हीदनों' के बारे में जो कुछ स्पष्ट, संक्षिप्त और निष्पक्ष जानकारी दी है, वह मिशनरियों के उस उग्र और भ्रमपूर्ण दावे को लज्जा के गर्त में डुबो देती है, जिसने इतने दिनों तक चर्च और धर्म पर अपना अनधिकारयुक्त सम्मान जमाये रखा ।

"धर्म एक जीवन है, बकवास नहीं । हमारे विचार बड़े सुन्दर और सुललित हैं; पर वे सब हवा में तैरते हैं। हमारे धर्म का सम्बन्ध महान् विचारों से है, पर केवल प्रश्नोत्तर की सीमा तक । एक सामान्य व्यक्ति का जीवन अभी भी एक ऐसे सहज, उदार दृष्टिकोण द्वारा अनुशासित नहीं हुआ है, जो उतना ही विश्वसनीय हो, जितना कि पर्याप्त । हम भ्रातृभाव की बातें करते हैं, पर अपने एक प्राच्यनिवासी पड़ोसी का खुल्लमखुल्ला अपमान कर सकते हैं। हमारा धर्म-विज्ञान विधर्मियों को नरकगामी घोषित कर उनकी खुली निन्दा करता है और हमारे पादरी तथा उपदेशक उस निम्नलोक को लोगों से भरने में इतने अधिक व्यस्त हैं कि वे यह नहीं देख पा रहे हैं, किस प्रकार वे संसार को उसके विपुल सौन्दर्य, माधुर्य और दिव्याकर्षण से रहित करते जा रहे हैं।...हम पाश्चात्यों का ईश्वर आकाश में स्थित है, जबकि कानन्दा का पृथ्वी पर । हमारा ईश्वर एक दिव्य आलसी व्यक्ति के अतिरिक्त और है क्या ! जब प्रत्येक रविवार को बदनसीब लोग उससे

खुशामदभरी प्रार्थना करते हैं, तो उसे कुछ काम मिल जाता है और इस प्रकार उसे तरह-तरह के दया-कार्यों में लगा दिया जाता है ! हमें इस हिन्दू से शिक्षा लेनी चाहिए कि ईश्वर सदा-सर्वदा से विद्यमान है, वह शासन-कर्ता है; वह खेत के प्रत्येक फूल में है, हवा की प्रत्येक साँस में है, हमारे रक्त की हरएक धड़कन में है ।

"कानन्दा ने गत रविवार शाम को कहा था, 'मैं तुम्हारे जीसस को स्वीकार करता हूँ; उसे अपने हृदय में बिठाता हूँ; मैं हर जगह और हर समय की सभी अच्छी और महान् बातों को ग्रहण करता हूँ; पर क्या तुम मेरे कृष्ण को अपने हृदय में स्थान दोगे ? नहीं, तुम यह नहीं कर सकते । तुममें यह साहस नहीं । पर फिर भी तुम सभ्य हो और मैं हीदन हूँ !'

"यही ईसाई धर्म का वैषम्य है, उसका प्राणघाती दोष है । यह एक सम्प्रदाय है--सीमित और संकुचित । यह सबको स्वीकार करनेवाला, आत्मसात् करनेवाला, विश्व-चिन्तन और विश्व-बन्धुत्व वाला धर्म नहीं । आह ! हम भ्रातृभाव और समानता आदि की कितनी बातें करते हैं ! सही बातें हैं । पर अपने पादरी को वेदी पर सुनना एक बात है और व्यवहार में क्या हो रहा है उसको जानना दूसरी बात ।

"हिन्दू अतिथिपरायण है । अतिथि द्वार पर खड़ा हो घर के बच्चे को पुकारता है । भले ही परिवार अत्यन्त गरीब क्यों न हो, पर अतिथि एक ऐसा आकर्षण है, जो

सेवा-सत्कार के समस्त बाँधों को खोल देता है। आतिथ्य के अतिरेक से बेचारे अतिथि की मुश्किल हो जाती है! अब इसकी तुलना हमारे बैठकखाने में होनेवाली धूर्तताओं से करो। चर्च एक पवित्र जगह है--हाँ है, पर केवल रविवार को दो घण्टे के लिए। वह भी रविवार की शाम को नहीं। वह समय युवा वर्ग के जोड़ों में आने का है, मानो किसी पार्टी में जा रहे हों। भले ही यह एक निष्कपट क्रिया है, पर उतनी ही घटिया है। परन्तु पाँच हजार वर्षों के पारिवारिक सद्‌गुणों एवं बन्धुत्वपूर्ण साधुता से सम्पन्न व्यक्तियों के लिए प्रत्येक दिन पवित्र है एवं प्रत्येक स्थान उत्साहवर्धक और महत्त्वपूर्ण है।....”

वेदी से दिये गये ये दो व्याख्यान कट्टरपन्थियों को बौखलाने के लिए पर्याप्त थे। विवेकानन्द की प्रशंसा में दिये राबी ग्रॉसमैन के भाषण की आलोचना करते हुए 'ईवनिंग न्यूज' ने २० फरवरी के अंक में एक लम्बा सम्पादकीय लिखा, जिसमें उसने डिट्रायट-समाज द्वारा स्वामीजी को दिये जानेवाले सम्मान और प्रतिष्ठा को निरर्थक ठहराया। उसकी दृष्टि में लोगों का स्वामीजी के प्रति लट्टू होना सिवा पागलपन के और कुछ न था। उसे स्वामीजी के भाषणों में ऐसी कोई नवीनता अथवा अलौकिकता नहीं दिखी, जिसके कारण उन्हें समाज और समाचार-पत्रों के सम्पादकीय में इतना ऊँचा उठाया जाय। स्वामीजी के विरोधी उन्हें नीचा दिखाने के लिए

कहाँ तक जा सकते हैं इसका अन्दाज केवल इससे लगाया जा सकता है कि एक हैमिल्टन गे होवर्ड नाम के व्यक्ति ने २३ फरवरी के 'डिट्रायट फ्री प्रेस' में मनुस्मृति के कुछ अंशों का हवाला देते हुए यह सिद्ध करने की कोशिश की कि हिन्दू धर्म, जिसकी महानता का इतना राग अलापा जा रहा है, कितना कुसंस्कारपूर्ण, पिछड़ा और दकिया-नूसी है। डिट्रायट के अनेक गिरजाघर स्वामीजी के विरुद्ध आलोचनाओं से मुखरित हो उठे। विशेषकर उनके प्रथम व्याख्यान की इस उक्ति ने कि "भारत संयुक्त-राष्ट्र अथवा संसार के अन्य किसी भी देश की अपेक्षा नैतिकता में कहीं बढ़ा-चढ़ा है तथा मिशनरियों के लिए यह उचित है कि वे उससे शिक्षा ग्रहण करें," कट्टरपन्थी पादरियों को उनके विरुद्ध बोलने का काफी मसाला दिया और वे लोग सब प्रकार से उनके देश, धर्म, संस्कृति, समाज, यहाँ तक कि उनके स्वयं के विरुद्ध जेहाद बोलकर पिल पड़े।

किन्तु जहाँ एक ओर स्वामीजी 'नीली नाक वाले', 'कठोर और नरम खोल वाले' शत्रुओं का निर्माण कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर डिट्रायट का सुसंस्कृत समाज उन्हें पलकों पर बिठा रहा था। बड़े बड़े प्रासाद उनकी अभ्यर्थना में खुल गये थे। जब तक वे वहाँ रहे, प्रायः रोज उनके सम्मान में आलीशान पार्टियों का आयो-जन होता, जिनमें नगर के गण्यमान्य लोग आमंत्रित रहते, जिससे वे स्वामीजी से विचार-विमर्श का

अधिक सुयोग पा सकें। विभिन्न विख्यात क्लबों में उनकी वक्तृताएँ आयोजित की गयीं, जहाँ डिट्रायट का श्रेष्ठतम समाज उपस्थित रहता। समाचार-पत्रों के अनुसार, श्रोतागण विशेषकर जेफर्सन एवेन्यू तथा वुडवर्ड एवेन्यू के होते, जो डिट्रायट के सर्वाधिक आधुनिक एवं फैशनपरस्त मुहल्ले थे, जहाँ नगर के प्रायः सभी प्रभावशाली उद्योगपति और ख्यातनामा व्यक्ति निवास करते। यद्यपि इन लोगों को अपने व्यापार की व्यस्तता के कारण धर्म और दर्शन की ओर ध्यान देने की फुरसत कम थी, पर वह तो इनके यहाँ की विद्या, बुद्धि और सौन्दर्य में बढ़ी-चढ़ी महिलाएँ थीं, जो सर्वाधिक संख्या में स्वामीजी के व्याख्यानों में उपस्थित होतीं और अत्यन्त उत्साह प्रकट करतीं। श्रीमती बागली स्वामीजी के डिट्रायट-निवास का वर्णन करते हुए लिखती हैं--"हम लोगों ने पूरे छः हफ्तों तक, जब तक वे हमारे बीच रहे, प्रत्येक दिन बड़े आनन्द से बिताया।... वे डिट्रायट में लोगों के विभिन्न क्लबों में आमंत्रित किये गये, तथा आलीशान भवनों में उन्हें दावतें दी गयीं, ताकि अधिक संख्या में लोग उनसे भेंट कर बात-चीत कर सकें तथा उनकी बातें सुन सकें।...प्रत्येक जगह, हर समय उन्हें आदर और सम्मान प्रदान किया गया, जिसके कि वे सर्वथा पात्र थे।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन भेंटों में अगणित उन्नायक चर्चाएँ हुई होंगी, अनेक रोचक वाद-संवाद हुए होंगे, कितनी ही अद्भुत

घटनाएँ घटी होंगी। पर वे सब अब तो काल के गर्त में चली गयी हैं। उनका केवल अन्दाज २५ फरवरी के 'ईवनिंग न्यूज' में छपी इस घटना पर से लगाया जा सकता है—

"स्वामी विवेकानन्द की भेंट की गाथाएँ विपुल हैं, साथ ही मनोरंजक भी। भले ही आत्मपरक अमरीकी के लिए वे कुछ अपमानजनक हों, पर इनके स्वयं के लिए तो मनोरंजक अवश्य रही होंगी। एक महिला ने कहा—'मैं सचमुच में उनके और हमारे डिट्रायट के अपने को सुसंस्कृत समझनेवाले कुछ व्यक्तियों के ज्ञान के अन्तर को देख लज्जा से गड़ गयी। एक भोज में एक सज्जन ने कानन्दा से पूछा कि वे उन्हें रसायनशास्त्र पर कौन-कौनसी पुस्तकें पढ़ने की सलाह देंगे। इसके उत्तर में हिन्दू संन्यासी ने इस विज्ञान पर अंग्रेजी ग्रन्थों की एक लम्बी तालिका प्रस्तुत कर दी, जिसकी जानकारी की आशा स्वाभाविक ही एक हिन्दू की अपेक्षा एक अमेरिकन से अधिक की जा सकती है। एक दूसरे सज्जन ने उनसे नक्षत्रविज्ञान से सम्बन्धित पुस्तकें बतलाने की प्रार्थना की, जिस पर कानन्दा ने भद्रतापूर्वक नक्षत्रविज्ञान सम्बन्धी वैसी ही श्रेष्ठ पुस्तकों की तालिका बतला दी। पर उसका उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ आश्चर्य तब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया, जब एक महिला ने पूछा कि 'क्राइस्ट' शब्द का क्या अर्थ है? इसका भी उन्होंने अभीप्सित उत्तर दिया, पर उनके स्वर में व्यंग्य का किंचित् आभास था।'

"किन्तु उन्नीसवीं सदी की सभ्यता और संस्कृति का

शायद श्रेष्ठ उदाहरण एक महिला द्वारा प्रस्तुत किया गया, जिसने कानन्दा से पूछा कि क्या वे अंग्रेजों को पसन्द करते हैं। उन्होंने अत्यन्त सहज भाव से कहा कि वे नहीं करते। फिर वह महिला बड़ी चतुराई से विषय को सिपाही-विद्रोह के रोचक प्रसंग का किंचित् हवाला दे आगे बढ़ाने लगी और जब ये हिन्दू उत्तेजित होने लगे, तो वह उनकी ओर मुसकराते हुए व्यंग्य से कह उठी, 'मैंने सोचा था कि मैं आपकी पूर्वीय दार्शनिक शान्ति को भंग कर सकती हूँ'!"

(क्रमशः)

महाभारत-मुक्ता

श्रेष्ठ कौन?

ब्रह्मचारी सन्तोष

गाधिनन्दन विश्वामित्र एक हरिण का पीछा करते हुए भाग रहे थे। गहन वन में हरिण उनकी आँखों से ओझल हो गया। राजा को प्यास लगी; उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। थोड़ी ही दूर पर एक ओर हरे-भरे घने वृक्ष दिखायी पड़े। राजा उसी ओर चल पड़े। निकट पहुँचकर उन्होंने देखा कि उस बीहड़ वन में एक सुरम्य उपवन है और उपवन के बीच बाँस आदि की बनी कई पर्णकुटियाँ हैं।

विश्वामित्र उन पर्णकुटियों के बीच आँगन में प्रविष्ट

हुए। एक ब्रह्मचारी की दृष्टि उन पर पड़ी। स्वागत करते हुए उसने राजा का अभिवादन किया।

विश्वामित्र ने पूछा, "ब्रह्मचारिन्! यह किस महापुरुष का पावन आश्रम है?"

ब्रह्मचारी ने कहा, "अतिथिप्रवर! यह ब्रह्मर्षि भगवान् वसिष्ठ का आश्रम है। आप आइए और अतिथिशाला में विराजिए।"

विश्वामित्र ने कहा, "ब्रह्मचारिन्! मैं पहले भगवान् वसिष्ठ के दर्शन करना चाहता हूँ। उसके पश्चात् ही अतिथिशाला में जाऊँगा।"

ब्रह्मचारी ने मार्गदर्शन किया। थोड़ी ही दूर पर एक वृक्ष के नीचे ब्रह्मर्षि वसिष्ठ बैठे हुए जिज्ञासुओं के प्रश्नों का समाधान कर रहे थे। विश्वामित्र ने ऋषि के चरण छुए। वसिष्ठजी ने भी राजा का यथोचित सत्कार किया। कुशल-क्षेम के पश्चात् वसिष्ठ ने पूछा, "राजन्! आप अकस्मात् आश्रम में कैसे पधारे?"

विश्वामित्र ने आखेट में आने का वृत्तान्त कह सुनाया। थोड़ी देर पश्चात् उन्होंने ऋषि से वापस लौट जाने की अनुमति माँगी। वसिष्ठजी ने साग्रह कहा, "राजन्! आप हमारे अतिथि हैं। अतिथि की सेवा हमारा धर्म है। अतः चाहे एक ही दिन के लिए क्यों न हो, आप हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिए।"

विश्वामित्र ने कहा, "भगवन्! आपका आशीर्वाद ही हमारे लिए पर्याप्त है। मेरे साथ मंत्री, अमात्य,

सामन्त तथा बहुत से सैनिकगण भी हैं, आश्रम का आतिथ्य स्वीकार करने पर आप सबको कष्ट होगा।"

वसिष्ठजी ने कहा, "राजन्! आप हमारे कष्ट और असुविधा की चिन्ता न करें। प्रभु की कृपा से आपके मंत्री, अमात्य, सैनिकगण आदि सभी के आतिथ्य-सत्कार की व्यवस्था हो जायगी।"

ऋषि का विशेष आग्रह देख विश्वामित्र ने संकोच-पूर्वक उनका आतिथ्य स्वीकार कर लिया। राजा विश्वा-मित्र अपने सेवकों तथा अनुचरों सहित पास ही के एक कुंज में ठहर गये। थोड़ी देर में एक ब्रह्मचारी ने आकर अतिथियों से भोजन के लिए चलने का निवेदन किया। राजा और मंत्रीगण महर्षि वसिष्ठ के साथ एक ओर बैठे तथा दूसरी ओर सैनिक एवं अन्य अधिकारीगण। उस सुदूर वन में नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन अतिथियों को परोसे गये। सभी लोगों ने तृप्तिपूर्वक भोजन किया। भोजन करते हुए महाराज विश्वामित्र को बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि इतनी दूर सघन वन में नगरों में भी सुलभता से उपलब्ध न होनेवाले स्वादिष्ट व्यंजन इतनी अधिक मात्रा में कहाँ से लाये गये। अपना कौतूहल न दबा सकने के कारण राजा ने ऋषि से पूछा, "भगवन्! आपका पावन आश्रम नगर से इतनी दूर सघन वन में स्थित है। यहाँ साधारण अन्न तथा फल-मूल ही उपलब्ध हो सकते हैं, किन्तु आपने हमारे स्वागत में इतने स्वादिष्ट पकवान बनवाये हैं, जो नगरों में भी सुलभता

से उपलब्ध नहीं हैं। ये सब वस्तुएँ आपने कहाँ से प्राप्त कीं, यह बताने की कृपा करें।"

महर्षि वसिष्ठ ने हँसते हुए कहा, "राजन्! हमारे पास देवलोक की एक कामधेनु है। अतिथि-सत्कार, यज्ञ-याग आदि के लिए हमें जब जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, हम उससे माँग लेते हैं, और वह भी हमें वांछित वस्तु हमारी आवश्यकता के अनुसार दे देती है। आप लोगों के सत्कार के लिए हमें उस कामधेनु से ही ये सारे व्यंजन मिले हैं।"

राजा विश्वामित्र ने उस गाय को देखने की इच्छा प्रकट की। ऋषि ने एक ब्रह्मचारी को आज्ञा दी। उसने कामधेनु को लाकर विश्वामित्र के सामने खड़ा कर दिया। उस सुन्दर और अद्भुत गाय को देख विश्वामित्र अवाक् हो गये। कुछ क्षणों पश्चात् उन्होंने वसिष्ठजी से कहा, "महामते! आप तो अरण्यवासी तपस्वी हैं। आपको इस कामधेनु की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि मुझे है। मैं राजा हूँ। मेरी राजधानी में सदा ही अतिथि-आगन्तुक आते रहते हैं। उनके उचित स्वागत-सत्कार के लिए मेरे पास इस कामधेनु का होना आवश्यक है। अतः आप कृपापूर्वक यह कामधेनु मुझे दे दें तथा इसके बदले आश्रम के लिए जितनी गायों की आवश्यकता हो वह आप मुझसे ले लें।"

वसिष्ठजी ने कहा, "राजन्! यह गाय हमारे यज्ञ-याग आदि कार्यों में सहायक है। इसकी सहायता से ही

हम अतिथियों की सेवा करते हैं। अतः आप ही सोचिए, यह गाय हम आपको कैसे दे सकते हैं ?"

विश्वामित्र ने कहा "महर्षे ! इस एक गाय के बदले आप मुझसे लाखों गायें ले लीजिए। उन गायों की सहायता से भी आप यज्ञ-याग आदि कर्म कर सकेंगे एवं अतिथियों की सेवा कर सकेंगे। आप कामधेनु मुझे दे दें।"

वसिष्ठ ने कहा, "राजन् ! कामधेनु तो हमारे आश्रम की शोभा है। वह हमारी इच्छा पूर्ण करनेवाली कपिला है। हम उसे आपको कदापि नहीं दे सकते।"

वसिष्ठजी के स्पष्ट नहीं कह देने पर विश्वामित्र ने रुष्ट होकर ऋषि से कहा, "ऋषिवर ! मैं क्षत्रिय हूँ और राजा हूँ। क्षत्रिय को जिस वस्तु की आवश्यकता है, यदि वह उसे सुगमतापूर्वक न मिले, तो उसे यह अधिकार है कि वह वांछित वस्तु को बलपूर्वक हरण करके प्राप्त कर ले। इसलिए अब मैं आपसे कामधेनु की याचना नहीं करता, मैं उसे बलपूर्वक ले जाऊँगा !"

महर्षि वसिष्ठ से ऐसा कहकर विश्वामित्र ने अपने सैनिकों को कामधेनु को बाँधकर ले चलने की आज्ञा दी। राजा की आज्ञा पाकर सैनिकों ने कामधेनु को रस्से से बाँध लिया और खींचकर ले जाने लगे। बेचारी अबला गाय उन क्रूर सैनिकों के साथ नहीं जाना चाहती थी। सैनिक उसे डण्डों और कोड़ों से मारने लगे। उनकी मार से व्याकुल हो, किसी प्रकार बन्धन छुड़ाकर कामधेनु वसिष्ठजी के पास दौड़ आयी। मानो वह मूक स्वर में

वसिष्ठ से कहने लगी, "भगवन् ! मुझसे क्या अपराध हो गया है, जो आपने मुझे इन क्रूर सैनिकों के हाथों सौंप दिया ? क्या आपने मेरा परित्याग कर दिया है ?"

वसिष्ठजी कामधेनु की पीठ पर सस्नेह हाथ फिराते हुए मानो कहने लगे, "सुरधेनु ! मैंने तुम्हारा त्याग नहीं किया है। विश्वामित्र क्षत्रिय हैं, इसलिए वे बलपूर्वक तुम्हें हरकर ले जाना चाहते हैं। यदि तुम उनके सैनिकों का प्रतिकार कर यहाँ रह सकती हो, तो आनन्द से रहो। तुम्हारे प्रति मेरा स्नेह पूर्ववत् ही है।"

ऋषि से आश्वासन पाकर कामधेनु ने उग्र रूप धारण कर लिया और क्रुद्ध होकर उसने विभिन्न प्रकार के सैनिकों को उत्पन्न किया। धेनु द्वारा उत्पन्न किये गये सैनिकों ने विश्वामित्र के सैनिकों पर भीषण आक्रमण कर उन्हें व्याकुल कर दिया। विश्वामित्र के सैनिक व्यथित और भयभीत हो वहाँ से भाग चले। अपनी सेना को भागते देख विश्वामित्र को बड़ा क्रोध आया। उन्हें लगा कि वसिष्ठजी ने ही कामधेनु को सैनिक उत्पन्न करने की आज्ञा दी है, अतः उन्हीं को इसका दण्ड देना चाहिए। ऐसा सोच विश्वामित्र ने क्रोधपूर्वक वसिष्ठ को ललकारा तथा उन पर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने लगे। किन्तु महर्षि वसिष्ठ शान्त भाव से मुसकराते रहे। उन्हें हँसते देख विश्वामित्र और भी अधिक कुपित हो उठे और तीव्र वेग से बाण-वर्षा करने लगे। वसिष्ठजी के हाथ में एक छोटासा दण्ड था।

उन्होंने उस साधारण दण्ड से ही विश्वामित्र के तीक्ष्ण बाणों को नष्ट कर दिया। उन घातक बाणों को नष्ट होते देख विश्वामित्र और भी अधिक कुपित हुए तथा उन्होंने वसिष्ठजी पर दिव्य अस्त्रों का प्रयोग किया। किन्तु महर्षि ने उन दिव्य अस्त्रों को भी उस दण्ड की सहायता से प्रभावहीन कर नष्ट कर दिया।

दिव्यास्त्रों के प्रभाव को नष्ट होते देख विश्वामित्र निराश हो गये। उन्हें हतप्रभ देख वसिष्ठजी ने कहा, "राजन्! शान्त क्यों हो गये? तुम्हारे पास और भी जो शस्त्र-अस्त्र हों, उनका मुझ पर प्रयोग कर लो न। मैं तो अभी भी तुम्हारे सामने ही खड़ा हूँ। तुमने देख लिया कि मेरे हाथ में कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं है। केवल यह छोटासा ब्रह्मदण्ड ही है। तुम चाहो तो अपनी शक्ति की और भी परीक्षा कर लो!"

वसिष्ठ का व्यंग्य सुनकर विश्वामित्र अवसाद में डूब गये। उन्हें लगा--धिक्कार है मेरे क्षत्र-बल को! कितने वर्षों के कठिन परिश्रम से मैंने इन अस्त्र-शस्त्रों को चलाना सीखा। कितनी कठोर साधना के पश्चात् दिव्यास्त्रों के रहस्य को जानकर उनका उपयोग सीखा। दिव्यास्त्रों के बल पर मैंने कितने ही युद्धों में विजय पायी। किन्तु आज एक कृशकाय साधारण तपस्वी ने मेरी महान् शक्तियों को एक साधारण ब्रह्मदण्ड से ही विनष्ट कर दिया! निराश विश्वामित्र ने अपने अस्त्र-शस्त्र वहीं फेंक दिये और दुखी होकर सघन वन की ओर जाने लगे। तभी

उनके मन में सहसा विचार आया--'वास्तव में ब्रह्मतेज ही सबसे महान् शक्ति है। उससे बड़ी और कोई शक्ति नहीं। ब्रह्मतेज को प्राप्त कर मनुष्य असीम शक्तिशाली हो जाता है, वह अपराजेय और अमर हो जाता है। क्यों न मैं भी ब्रह्मतेज ही प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ?'

इस विचार के आते ही विश्वामित्र की निराशा दूर हो गयी। उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब मैं तपस्या द्वारा ब्रह्मतेज प्राप्त करूँगा। निश्चय करके वे कठोर तपस्या में लग गये तथा यथासमय उन्होंने ब्रह्मतेज प्राप्त किया और ब्रह्मर्षि हुए।

महाभारत एक ऐसा विशाल ग्रन्थ है, जिसमें मानव-जीवन के पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सरल आख्यानों-उपाख्यानों द्वारा सुबोध बनाकर प्रस्तुत किया गया है। महाभारत-काल में भी भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के बीच घोर संघर्ष चल रहा था। उपर्युक्त आख्यान इन्हीं दो शक्तियों के बीच होने-वाले संघर्ष का प्रतिपादन करता हुआ अन्त में यह सिद्ध करता है कि वास्तव में आध्यात्मिक शक्ति ही श्रेष्ठ है तथा अन्तिम विजय उसी की होती है।

✤

आस्था

डा० प्रणवकुमार बनर्जी

दुनिया सिर झुकाकर खड़ी रहती है
मन्दिर में, मस्जिद में,
गिरजे में, गुरुद्वारे में,
क्योंकि यहाँ ईश्वर रहते हैं !

पर
आदमी के तन में
लाल लाल खून है
और कुछ संवेदना,

इसलिए
इसमें ईश्वर दिखायी नहीं देता।
लोगों की भी क्या आस्था है !
आदमी को ईश्वर ने बनाया
पर आदमी मन्दिर नहीं कहलाता;
जहाँ ईंट और पत्थर
कुछ ठेकेदारों के लगाये हुए
लेबल सहित खड़े रहते हैं
वहीं ईश्वर की खोज होती है !

✿

धर्मप्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनु० – स्वामी व्योमानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ एवं मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। विभिन्न अवसरों पर दिये गये उनके कुछ आध्यात्मिक उपदेश कतिपय संन्यासियों एवं भक्तों द्वारा लिपिबद्ध कर लिये गये थे। उन्हीं उपदेशों का कुछ अंश मूल बँगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्‌बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया गया। उसी का धारावाहिक अनुवाद यहाँ पर 'उद्‌बोधन कार्यालय' के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है।--सं०)

स्थान–आलमबाजार मठ

१ जून, १८९७

प्रश्न-- महाराज ! श्रीरामकृष्णदेव के बारे में कुछ कहिए। वे सबको किस भाव से देखते थे ?

उत्तर-- वे सबको नारायण-भाव से देखते थे। जब स्वामी विवेकानन्दजी ने उनसे एक दिन कहा, "आप हम लोगों को इतना प्यार करते हैं, तो क्या आखिर में आपकी जड़भरत के समान अवस्था नहीं होगी ?" उसके उत्तर में उन्होंने कहा था, "जड़ का चिन्तन करने से जड़भरत होता है, मैं तो चैतन्य का चिन्तन करता हूँ ! जिस दिन तुम लोगों पर मन चला आयगा, उस दिन सबको भगा दूँगा।"

किसी कारणवश श्रीरामकृष्णदेव ने एक दिन स्वामी विवेकानन्द के साथ बातचीत नहीं की। बिना कुछ बुरा माने स्वामीजी प्रफुल्ल-चित्त ही रहे। इसे देख श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था, "वह बहुत बड़ा आधार है।" और एक दिन केशव सेन को स्वामीजी की अधिक प्रशंसा

करते देख उन्होंने कहा था, "इतनी प्रशंसा मत करो, अभी भी 'रासफूल' खाने का समय आने में काफी देर है।"

वे कहते थे, "भगवान् के लिए किस प्रकार प्रेम होना चाहिए जानते हो ? जिस प्रकार कुत्ते के सिर पर घाव होने से वह पागल के समान छटपटाता हुआ इधर-उधर दौड़ता है, भगवान्-लाभ के लिए भी उसी प्रकार की अवस्था होनी चाहिए।"

श्रीरामकृष्णदेव किसी को भी दो-तीन दिन से अधिक अपने पास नहीं रहने देते थे। कोई युवक उनके पास अधिक दिन रह गया। इस पर कुछ लोग नाराज हो गये और शिकायत करने लगे कि वे त्याग-धर्म सिखाते हैं। यह सुन उन्होंने कहा था, "वह संसार में रहे न, मैं क्या उसे मना कर रहा हूँ ? परन्तु पहले ज्ञान-लाभ कर ले, फिर संसार में रहे। मैं क्या सभी लोगों को कामिनी-कांचन के त्याग का उपदेश देता हूँ ? जिन्हें देखता हूँ कि थोड़ासा जगा देने से ही हो जायगा, उन्हीं से कहता हूँ।" अन्य सब लोगों से श्रीरामकृष्णदेव कहते थे, "तुम लोग पहले आमड़े की खटाई खाओ, जब आमशूल हो तब दवा के लिए आना।"

श्रीरामकृष्णदेव कभी-कभी हम लोगों से पूछते थे, "यह मेरा कैसा स्वभाव है, बताओ तो ? जो लोग मुझे एक पैसे का बतासा भी नहीं दे सकते, जिनकी सामर्थ्य एक फटी चटाई देने की भी नहीं है, उन लोगों के पास भला

इतना क्यों जाता हूँ ?" फिर स्वयं ही इसका समाधान करते हुए कहते, "देखता हूँ कि इन लोगों का सहज ही हो जायगा; और बाकी लोगों का होना बहुत ही कठिन है--जैसे दही की हंडी के समान, दूध उसमें नहीं रखा जा सकता।" उन लोगों से वे कहते थे, "जिससे तुम लोगों को शीघ्र ही भगवान्-लाभ हो जाय, ऐसी प्रार्थना करता हूँ।"

एक दिन कर्ताभजा* सम्प्रदाय के सम्बन्ध में बात उठी। गिरीश बाबू ने कटाक्ष करते हुए कहा, "मैं उन लोगों के सम्बन्ध में एक नाटक लिखूँगा।" गिरीश बाबू को इस प्रकार कहते सुन ठाकुर† गम्भीर हो गये और बोले, "देखो, इन लोगों में भी अनेक सिद्ध पुरुष हो गये हैं। यह भी एक रास्ता है।"

ठाकुर के बारे में महाराज ने और भी कहा कि वे श्राद्ध, विवाह आदि सांसारिक कार्यों के उपलक्ष में भोजन आदि करने का निषेध करते थे। ध्यान करने के पहले हरिनाम करने को कहते थे।

एक दिन स्वामी तुरीयानन्द ने श्रीरामकृष्णदेव से पूछा, "काम किस तरह दूर होता है ?" उत्तर में उन्होंने कहा, "दूर क्यों होगा रे ? उसका मुँह दूसरी ओर मोड़ दे।" इसी तरह क्रोध, लोभ, मोह आदि के सम्बन्ध में भी यही बात कही। यह सुन तुरीयानन्द का मन उत्साह से भर गया।

---

* एक तान्त्रिक सम्प्रदायविशेष।

† भक्तों में श्रीरामकृष्ण इसी नाम से परिचित हैं।

ठाकुर कहते थे, "जहाँ तीव्र व्याकुलता है, वहीं भगवान् का प्रकाश अधिक होता है।"

वे किसी-किसी से कहते थे, "(स्वयं को दिखाकर) इसके प्रति प्रेम रखो, उसी से सब हो जायगा।" वह एक अद्भुत घटना हो गयी है।

स्थान--आलमबाजार मठ

२३ जुलाई, १८९७

ठाकुर की चर्चा चलने पर महाराज ने कहा--ठाकुर के वचनों को, विशेषकर उन्होंने साधन-भजन, आध्यात्मिक विकास और अनुभूति आदि के विषय में जो कुछ कहा, उस सबको यदि ठीक ढंग से लिख लिया जाता, यानी उनके श्रीमुख से सुनने के साथ ही ज्यों का त्यों लिखकर रख लिया जाता, तो बहुत ही अच्छा हुआ होता। जब वे ज्ञान के बारे में कहते थे, तब ज्ञान के सिवा अन्य किसी भी विषय पर नहीं बोलते थे। और जब भक्ति पर बोलना आरम्भ करते, तब केवल भक्ति के बारे में बोलते थे, अन्य किसी विषय पर नहीं। वे बारम्बार हम लोगों के मन में इस बात की विशेष धारणा करा गये कि सांसारिक ज्ञान अति तुच्छ और वृथा है। केवल आध्यात्मिक ज्ञान, भक्ति और अनुराग के लिए ही साधना करनी होगी।

प्रश्न--ठाकुर की समाधि किस प्रकार की होती थी?

उत्तर--भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार से वे समाधि-मग्न होते थे। किसी समय उनका सारा

शरीर काठ के समान एकदम कड़ा हो जाता था। उस अवस्था से नीचे आने पर उनका मन सहज ही साधारण भाव में आ जाता था। और जब वे गहरी समाधि में डूब जाते थे, तब समाधि से नीचे आते ही, जैसा जल में डूबा हुआ व्यक्ति ऊपर आते ही हाँफ उठता है, उसी प्रकार वे दीर्घ नि:श्वास लेते थे। उसके बाद धीरे धीरे उन्हें बाह्यज्ञान होता था। भाव-संवरण के बाद भी कुछ समय तक वे मतवाले के समान बातचीत करते रहते थे, उनकी सब बात समझ में नहीं आती थी। ऐसे समय वे कभी कभी छोटे संकल्प करते, जैसे 'सुक्तो * खाऊँगा', 'तमाखू पीऊँगा', इत्यादि। और कभी कभी मुख पर हाथ रखकर उसे ऊपर से नीचे की ओर ले जाते थे।

महाराज ने स्वयं प्रश्न उठाते हुए कहा--कोई बाहर की सहायता न होने पर भी ठाकुर की शीघ्र आध्यात्मिक उन्नति का तुम्हें कौनसा कारण प्रतीत होता है ? जन्मगत संस्कार के सिवा तो विशेष और कुछ दिखायी नहीं देता। यह क्या अलौकिक घटना नहीं है ? और भी अनेक अलौकिक बातें हैं। एक साधु उन्हें 'रामलाला' (श्रीरामचन्द्र की बालमूर्ति) की एक धातु-निर्मित मूर्ति दे गये। जब वे उस मूर्ति को गंगाजी में स्नान कराने ले जाते, तो वह गंगा में तैरती थी ! यह बात उन्होंने स्वयं कही है। ऐसी दशा में तुम लोग जड़ और चैतन्य का विभाजन किस तरह करोगे ?

---

* एक प्रकार की बंगाली तरकारी।

उन्होंने कहा था कि पहले-पहल साधु होने की उनमें कोई विशेष इच्छा नहीं थी, किन्तु बाद में उनके मन में ऐसा एक तूफान आ गया, जिससे सब कुछ उलट-पलट गया।

प्रश्न-- उनके पास क्या कोई सिद्धाई थी ?

उत्तर-- अणिमादि सिद्धियाँ तो मैंने कभी नहीं देखीं, परन्तु मनुष्य-स्वभाव को वे बहुत अच्छी तरह पहचान सकते थे। इस प्रकार की अनेक अद्‌भुत घटनाएँ मैंने स्वयं देखी हैं।

प्रश्न-- क्या काली, कृष्ण इत्यादि रूप सत्य हैं ?

उत्तर-- हाँ, हैं।

स्थान--बेलुड़ मठ

२७ मई, १८९९

महाराज--तुम लोग वक्तृता देते समय जितना हो सके ठाकुर के उपदेश कहना, क्योंकि उनके उपदेशों के द्वारा शास्त्र का यथार्थ मर्म बड़ी सहजता से समझ में आ जाता है।

ठाकुर इस बात का हमेशा निषेध करते थे कि 'मन में कुछ और मुख में कुछ और' रखा जाय। सरल स्वभाव के व्यक्ति से वे बहुत प्रेम करते थे। वे कहते कि मुझे खुशामद अच्छी नहीं लगती। जो भगवान् को ठीक-ठीक पुकारता है, उसे मैं प्यार करता हूँ। वे और भी कहा करते कि सरल हृदय से भगवान् को पुकारने से मन का सारा मैल दूर हो जाता है।

कुछ लोग ठाकुर के पास आकर अपनी भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक अवस्थाओं तथा भावोपलब्धि का वर्णन करते। यह सब देख एक बालक-भक्त ने ठाकुर से हार्दिक प्रार्थना की कि उसे भी वे इसी प्रकार का कुछ कर दें। यह सुन उन्होंने कहा, "देख, नियमित रूप से से नित्य ध्यान-भजन करते करते तब कहीं उस अवस्था की प्राप्ति होती है। धीरे धीरे सब हो जायगा।" इस घटना के दो-एक दिन बाद ठाकुर को भवतारिणी मन्दिर की तरफ जाते देख वह बालक भी उनके पीछे पीछे जाने लगा। ठाकुर सीधे काली माँ के मन्दिर में आये और भीतर चले गये। बालक भी मन्दिर के पास आया तो, पर अन्दर प्रवेश करने का साहस न कर सकने के कारण वह सामने के प्रार्थना-मण्डप में बैठकर ध्यान करने लगा। कुछ समय बाद उसे एकदम दर्शन हुआ कि गर्भमन्दिर में से कोटि सूर्य के समान एक उज्ज्वल ज्योति उसकी ओर द्रुत गति से आ रही है। तब वह डर के मारे प्रार्थना-मण्डप से दौड़ते दौड़ते ठाकुर के कमरे में भाग आया। कुछ समय बाद ठाकुर भवतारिणी के मन्दिर से वापस आये और बालक को अपने कमरे में देख उससे पूछा, "क्यों रे, शाम को ध्यान करने बैठा था ?" बालक ने कहा, "हाँ," और तदनन्तर उसने ध्यान करते समय मन्दिर में हुए ज्योतिदर्शन और डर के मारे भाग आने की बात ठाकुर से कही। यह सब सुन ठाकुर ने कहा, "तू तो कहता है न कि कुछ दर्शन नहीं होता,

ध्यान करके क्या होगा ? और जब कुछ दर्शन होता है, तब फिर भाग क्यों आता है ?"

अक्सर ठाकुर रात को एक-आध घण्टे से ज्यादा नहीं सोते थे। कभी समाधि में, कभी संकीर्तन में, और कभी हरिनाम करते करते रात बिता देते थे। कभी कभी देखा है, एक-डेढ़ घण्टे समाधिस्थ ही रहते थे। उस अवस्था में बात करने की कोशिश करने पर भी बात नहीं कर सकते थे। समाधि से नीचे आने पर कहते, "देखो, उस अवस्था में इच्छा होती है कि तुम लोगों को अनेक बातें बतलाऊँ, पर तब मानो मेरी बोली बन्द हो जाती है।" समाधि के बाद कुछ अस्पष्ट-सी बातें कहते। ऐसा लगता मानो किसी से बातचीत कर रहे हैं। सुना है, पहले वे प्रायः समाधि-अवस्था में ही रहते थे।

वे कहते, "भगवान्-लाभ करने के लिए खूब अनुराग चाहिए।" ईसा मसीह के जीवन का एक दृष्टान्त कभी कभी देते थे। एक वृद्ध ने ईसा मसीह से एक दिन पूछा, "भगवान्-लाभ कैसे होगा ?" ईसा मसीह ने वृद्ध के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। वे उसे नजदीक के एक तालाब में ले गये और जल में डुबा रखा। कुछ क्षणों में ही वृद्ध कष्ट के मारे छटपराने लगा। तब ईसा मसीह ने उसे पानी से बाहर निकालकर पूछा, "पानी में तुम्हें कैसा मालूम होता था ?" वृद्ध ने जवाब दिया, "ऐसा लगता था कि श्वास बन्द होने के कारण प्राण अब जाते ही हैं।" ईसा मसीह ने तब कहा,

"भगवत्प्राप्ति के लिए जब मन की ऐसी अवस्था होगी, तभी उनके दर्शन होंगे।"

स्वामी विवेकानन्द पहले-पहल खूब शुष्क तर्क करते थे ; वे निराकारवादी थे। यहाँ तक कि वे ठाकुर से भी कह देते, "आपको जो सब दर्शन होता है, वह मन का भ्रम है।" यदि कोई देव-देवी के मन्दिर में प्रणाम करने जाता, तो वे उसका तिरस्कार करते। इससे कई लोग उन पर नाराज हो जाते थे। परन्तु ठाकुर बिल्कुल नाराज नहीं होते। कहते, "नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) जैसा आधार आजकल दिखायी नहीं देता।" बाद में जब ठाकुर ने स्वामीजी को देव-देवी के दर्शन करा दिये, तब कहीं स्वामीजी साकार में विश्वास करने लगे। उसके बाद तो वे कहा करते, "साकार या निराकार जिसमें भी हो, निष्ठा होने से ही सब हो जायगा।"

*

चाहे तुम आध्यात्मिकता में विश्वास करो या न करो, पर राष्ट्रीय जीवन के लिए तुम्हें आध्यात्मिकता को पकड़ना होगा और उससे लगे रहना होगा। तत्पश्चात् अपना दूसरा हाथ बढ़ाओ और दूसरी मानव-जातियों से जो कुछ ले सकते हो ले लो। पर याद रखो, हर बात को जीवन के उस आदर्श के अधीन रखना होगा।

—**स्वामी विवेकानन्द**

प्रश्न—कार्य के लिए कारण अपेक्षित है। इसीलिए हमारा वर्तमान हमारे अतीत के परिणामस्वरूप है। तो क्या अतीत के परिणाम से छुटकारा सम्भव है ?

—सुरेशचन्द्र शर्मा, पारा (झाबुआ)

उत्तर—यह सत्य है कि कार्य-कारण का नियम सामान्यत: अकाट्य होता है, पर यह भी सत्य है कि कार्य की तीव्रता को वर्तमान कारण के फलस्वरूप हलका किया जा सकता है और इस प्रकार अतीत के परिणाम से छुटकारा पाया जा सकता है। आपका प्रश्न दूसरे शब्दों में यों होगा—क्या इच्छा-स्वातंत्र्य नाम की कोई चीज है, अथवा भाग्य ही सर्वत्र फला करता है ? भाग्य और इच्छा-स्वातंत्र्य का झगड़ा बहुत पुराना है। भाग्यवादी यह मानता है कि वर्तमान पूरी तरह से अतीत का ही परिणाम है, इसलिए वह वर्तमान को अटल और अपरिवर्तनीय मानता है। फलस्वरूप, वह पुरुषार्थ में कोई श्रेय नहीं देखता। वह प्रयत्न करना व्यर्थ मानता है और अकर्मण्य एवं आलसी हो जाता है। दुर्भाग्य से भारत इस प्रकार की विचारधारा का एक अरसे से शिकार रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने पहली बार सिंहगर्जना करते हुए भारत के पौरुष को जगाया और भारतवासियों को यह पाठ सिखाया कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है और

इसलिए वह अपने भाग्य में इच्छानुसार परिवर्तन ला सकता है। वर्तमान जीवन की सभी घटनाओं और क्रियाओं को अतीत का परिणाम मान लेने से यह भी मानना पड़ेगा कि ये ही घटनाएँ और क्रियाएँ भावी जीवन की घटनाओं और क्रियाओं का निर्माण करेंगी और इस प्रकार व्यक्ति के लिए इच्छापूर्वक करने को कुछ नहीं रह जायेगा। ऐसी विचारधारा गलत है। यह सत्य है कि अतीत ही हमारे वर्तमान का निर्माण करता है और वर्तमान हमारे भविष्य का, पर यह सत्य नहीं कि अतीत ही हमारे भविष्य का निर्माता है। हम अपने वर्तमान को इच्छानुसार रूप दे सकते हैं। एक उदाहरण से इस बात को समझने की कोशिश करें। मान लीजिए, कोई ताश खेलने बैठा है। अब उसके हाथ में जो पत्ते आये, इसे तो अतीत का परिणाम माना जा सकता है। पर उन पत्तों से खेलने का जो कौशल होगा, उसे वर्तमान को बदलने की चेष्टा या इच्छा-स्वातंत्र्य या पुरुषार्थ के नाम से पुकारा जा सकता है।

श्रीरामकृष्ण अपनी सहज-सरल वाणी में कहा करते थे कि अगर अतीत के कर्मों के फलस्वरूप किसी व्यक्ति के भाग्य में पैर का कटना बदा हो, तो वर्तमान जीवन में अच्छे कर्म करने से, भगवान् की भक्ति करने और उनकी शरण में जाने से उसका पैर तो न कटेगा; पर हाँ, काँटा चुभकर रह जायगा।

❖

पुस्तक-समीक्षा

साहित्य-वीथी

पुस्तक का नाम : स्वामी विज्ञानानन्द : जीवन और सन्देश
मूल लेखक : स्वामी विश्वाश्रयानन्द
अनुवादक : ब्रह्मचारी देवेन्द्र
प्रकाशक : रामकृष्ण मठ, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद-३.
पृष्ठ संख्या : ७६, मूल्य : दो रुपये

प्रस्तुत ग्रन्थ युगावतार श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी-शिष्य स्वामी विज्ञानानन्द पर मूल बँगला में प्रकाशित जीवनी-ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद है। स्वामी विज्ञानानन्दजी का जीवन ईश्वर-समर्पित था और उनसे सैकड़ों लोगों को धार्मिक जीवन बिताने की प्रेरणा मिली थी। ग्रन्थ के प्रथम भाग में उनके छात्र-जीवन, कार्य और श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन का उल्लेख है तथा दूसरे भाग में उनके संन्यास-जीवन के प्रेरक प्रसंग हैं। तीसरे भाग में उनके संस्मरणों एवं उपदेशों के संकलन से यह पुस्तक बड़ी उपादेय हो गयी है।

जो लोग धार्मिक जीवन बिताने की इच्छा रखते हैं, उन्हें इस ग्रन्थ से एक नयी आध्यात्मिक प्रेरणा मिलेगी। सर्वसामान्य पाठक के लिए भी यह ग्रन्थ एक ऐसे महापुरुष की प्रतिमा साकार करता है, जिसने एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए जीवन ग्रहण किया था। मूल बँगला से इसका हिन्दी अनुवाद अत्यन्त सरस बन पड़ा है तथा इसमें मूल भावों की पूरी रक्षा हुई है। ऐसी सुन्दर पुस्तक के प्रकाशन के लिए अनुवादक एव प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

डा० नरेन्द्र देव वर्मा